

आप्त राष्ट्र पुरुष

ऋषि दयानन्द
मेरी दृष्टि में

क्षितीश वेदालंकार

मूल्य : रु० ५

ऋषि दयानन्द के 168वें जन्म दिवस,
17 सितम्बर, 1991 (भाद्रपद शुक्ला नवमी संवत् 2048) पर
वेद संस्थान, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली में दिया गया भाषण ।

ऋषि दयानन्द - मेरी दृष्टि में

आप्त राष्ट्र पुरुष

जब आप मेरी दृष्टि की बात करते हैं तब शुरू में ही यह मानकर चलना होगा कि मेरी दृष्टि की अपनी सीमा है। सूक्ष्म दृष्टि या अन्तर्वृष्टि की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। पर अपनी ससीम दृष्टि के प्रति भी मेरी ममता है, क्योंकि वह मेरी है। जब तक 'मैं' (अहम्) है, तब मेरी दृष्टि भी है और उसे मैं छोड़ भी नहीं सकता (अ+हम्)। मेरी इस दृष्टि से असहमत होने का आपको पूरा अधिकार है। पर मुझे पहले कहने तो दीजिए कि वह मेरी दृष्टि क्या है?

जन्म जन्मान्तर से मनुष्य में मुक्ति की कामना रही है। यह मुक्ति की कामना क्या है और 'स्वतंत्रः कर्ता' कह कर जीवात्मा को कर्म करने में स्वतंत्र बताने का तात्पर्य क्या है, इस पर विचार करें तो स्वतंत्रता और मुक्ति परस्पर समानार्थक ही प्रतीत होते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार "अथ त्रिविधं दुःखात्यन्तं निवृत्तिरत्यन्तं पुरुषार्थः" — अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों प्रकार के दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। न्यायदर्शन के अनुसार "बाधनालक्षणं दुःखमिति तदत्यन्तं विमोक्षोपवर्गः" — बन्धन ही दुःख का कारण है और उसकी अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष है, अपवर्ग है। स्वतंत्रता भी तो बन्धन से निवृत्ति ही है। इस तथ्य के आलोक में ऋषि दयानन्द ने आत्मिक, शारीरिक तथा सामाजिक उन्नति को, धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि को ही मोक्ष एवं स्वतंत्रता का परिचायक माना है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अर्थात् समाज की एक इकाई है। व्यष्टि से समष्टि का निर्माण होता है। व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र — यह इकाई, दहाई, सैंकड़े का ही खेल है, अन्य कुछ नहीं। व्यक्ति के मूल में आत्मचेतना है, वह आत्मचेतना ही विकसित होते हुए सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना तक और अंत में विश्व चेतना तक पहुंचती है। यही 'एकोऽहं बहुस्याम्' है।

नया प्रश्न

ऋषि दयानन्द अद्भुत आत्मचेतना सम्पन्न व्यक्ति थे, यह उनके बालजीवन से ही प्रकट हो जाता है। इस आत्मचेतना का प्रथम विस्फोट बालक मूलशंकर की 14 वर्ष की आयु में सन् 1838 की शिवरात्रि के उपवास की उस घटना से मुखर होता है जो सर्वप्रसिद्ध है। उस घटना को यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह सबकी परिचित है। न जाने कितनी सदियों से उस रूप में शिव की जड़ पूजा चली आ रही थी, पर बालक के मन में सहज जिज्ञासावश यह प्रश्न उठा कि क्या यही सच्चा शिव है जो अपने सिर पर से, उछल-कूद मचाते, नैवेद्य और मिष्ठान खाते, छोटे छोटे मूषकों को भी नहीं हटा सकता ? शिव तो असीम शक्तिधारी और त्रिपुर-संहारी कहे जाते हैं। यह शिव तो वैसा नहीं लगता । यह प्रश्न था जिसने बालक के जिज्ञासु मन को झकझोर दिया। कवि ने कहा है —

प्रश्न हूं उत्तर नहीं हूं।
क्योंकि मैं नश्वर नहीं हूं॥

प्रश्न चिरन्तन है, उत्तर क्षणस्थायी है। सदियों से किसी ने ऐसा प्रश्न नहीं किया था। समस्त ज्ञान-विज्ञान की खोज के मूल में यही प्रश्न तो है — 'ऐसा क्यों ?' प्रश्न नहीं तो उत्तर भी नहीं। ऐसे पारस पत्थर की खोज करते करते ही, जिसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाए, मानव इतनी विराट वैज्ञानिक उन्नति के शिखर तक पहुंच गया। मानव-मन प्रश्न करता गया, उनके उत्तर खोजता गया, वैज्ञानिक उन्नति होती गयी, उत्तर मिलते गये और मिटते गए, पर प्रश्न अंगद का पाँव जमाए फिर खड़ा है — ऐसा क्यों, और मनुष्य अब पृथ्वीलोक से उठकर अंतरिक्ष लोक के अवगाहन में जुटा है और नित्य नए नए तथ्य सामने आते जा रहे हैं। ज्ञान अनन्त है तो उसकी खोज का भी अन्त नहीं।

फिर शंकर के मूल का अनुसन्धान करते बालक मूलशंकर के मन में 14 वर्ष की आयु में उठा प्रश्न क्या यों ही क्षणिक उत्तरों से विलीन हो जाता। उसने तो सारे जीवन को दाँव पर लगा दिया। 14 वर्ष की आयु 'लालयेद् पंचवर्षाणि' वाली आयु नहीं है, 'दशवर्षाणि ताड़येद्' वाली आयु भी नहीं है। बालक के पहले पांच वर्ष मां की ममता से भरे हैं, तो अगले पांच वर्ष पिता के कठोर अनुशासन के — जिसमें यदा कदा ताड़न भी अस्वाभाविक नहीं है, पर दस वर्ष की आयु के बाद तो अगला सोपान 'प्राप्ते

तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्—16 वर्ष की वह आयु ही है जब पिता को भी पुत्र के साथ मित्र की तरह आचरण करने का विधान है। अभी 16वें वर्ष तक पहुंचने में दो वर्ष की कसर है, पर शरीर, मन और मस्तिष्क का तीव्र गति से विकास प्रारम्भ हो चुका है। इस संधि-वेला में, किशोरावस्था की देहली पर, बालक के मन में प्रश्न उठता है कि क्या यही सच्चा शिव है।

इस आयु में उठे प्रश्नों का और जिज्ञासाओं का यदि उचित समाधान न मिले तो वह कितना विप्लवकारी बन सकता है, यह हरेक मनुष्य अपने अनुभव से जानता है, क्योंकि हममें से हरेक उस आयु से गुजर कर आया है। बालक मूलशंकर के प्रश्न का भी क्षणस्थायी उत्तरों से समाधान नहीं हुआ और अन्त में 22 वर्ष की आयु होते होते, जब माता-पिता सत्य की खोज को विवाह के हिरण्मय पात्र से ढकने का प्रयत्न करके उस प्रश्न को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहते थे, तब मूलशंकर शंकर के मूल को खोजने के लिए घर से निकल पड़ा -- अनन्त की ओर। तो यह था उसकी आत्मचेतना का प्रथम प्रबल विस्फोट।

पर क्या सामाजिक चेतना और राष्ट्र-चेतना भी प्रकारान्तर से आत्मचेतना का विकास ही नहीं है? जितनी तीव्र आत्म-चेतना, उतनी ही तीव्र समाज-चेतना और उतनी ही तीव्र राष्ट्र-चेतना भी। पर हम नाना प्रकार के हिरण्मय आवरणों से उन चेतनाओं के विकास को अवरुद्ध करने का प्रयत्न करते रहते हैं और प्रायः वे अवरुद्ध हो भी जाती हैं, नहीं तो आप में से भी न जाने कितने और दयानन्द पैदा हो जाते। मेरा निवेदन यह है कि आत्मचेतना के प्रबल विस्फोट की घोतक शिवरात्रि की उक्त घटना में भी सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का अंकुर छिपा था। आप पूछेंगे कैसे ?

शिव का रूपक

पौराणिक मण्डली में शिव के जितने रूपों का वर्णन किया जाता है, आप उन पर विचार करके देखिये, तो वे निरे रूपक नज़र आएंगे। भला कभी कोई ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है जो सदा कैलाश पर्वत के बाईंस हजार फुट ऊंचे शाश्वत हिमाच्छादित शिखर पर निवास कर सके। मैंने स्वयं कैलाश और मानसरोवर की यात्रा की है, सो प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर कह सकता हूँ कि वहां न कोई शिव का मन्दिर है, न ही कोई शिव की मूर्ति है। इस प्रकार के शरीरधारी व्यक्ति के अस्तित्व का तो प्रश्न ही नहीं। हां अब भवत लोग यह कहते हैं कि पूरा कैलाश शिखर ही शिवलिंग के सदृश है।

पर यह भी केवल कल्पना-विजृम्भण मात्र है। फिर शिव के सिर से गंगा निकलती है। क्या यह भी कभी सम्भव है, या यह सृष्टि नियम के अनुकूल है? गंगा गंगोत्री और गोमुख से निकलती है, कैलाश पर्वत से नहीं, कैलाश और गंगोत्री में सैंकड़ों भीलों की दूरी है — यह प्रत्येक भूगोलवेत्ता जानता है। मानसरोवर से सतलुज (शतद्व) और कैलाश श्रृंखला से सिन्धु और ब्रह्मपुत्र अवश्य निकलती हैं। जो प्रत्यक्ष है, उसका अपलाप कोई कैसे कर सकता है? पर यदि यह सब रूपक है, तो साहित्यिक दृष्टि से शिव सम्बन्धी समस्त पौराणिक वर्णन सत्य है, मिथ्या नहीं। संस्कृत साहित्य में एक श्लोक आता है जिसमें शिव के सांगोपांग रूप का वर्णन इस प्रकार है —

पिनाक-फणि-बालेन्दु-भस्म-मन्दाकिनीयुता ।
पवर्गरचिता मूर्तिरपवर्गप्रदास्तु नः ॥

पवर्ग में 5 अक्षर आते हैं — प, फ, ब, भ, म। इन पांचों अक्षरों से एक एक शब्द निर्मित है। प से पिनाक, फ से फणी, ब से बालेन्दु, भ से भस्म, म से मन्दाकिनी। पिनाक यानी शिवजी का धनुष, फणी यानी साँप — जो शिवजी गले में धारण करते हैं। बालेन्दु यानी दूज का चांद जो शिवजी के मस्तक पर विराजमान है। भस्म — जिसे शिवजी अपने सारे शरीर पर रमाते हैं। मन्दाकिनी यानी गंगा-जो शिवजी के सिर से निकलती है। इस प्रकार पिनाक, फणी, बालेन्दु, भस्म और मन्दाकिनी इन पांचों के आद्य अक्षरों से — अर्थात् प फ ब भ म से — पवर्ग से — जो मूर्ति बनी है वह आपको अपवर्ग प्रदान करे। पवर्ग से बनी मूर्ति भला अपवर्ग कैसे प्रदान करेगी — क्योंकि अपवर्ग का अर्थ होगा — जो पवर्ग नहीं। पर इसमें जो प्रतीपालंकार का चमत्कार है, साहित्य के सुधी रसिक जन उसका आस्वादन कर करके सराहेंगे — वाह ! पवर्ग रचित मूर्ति अपवर्ग प्रदान करे ! क्या सुन्दर उकित है, क्योंकि विद्वान्-जन जानते हैं कि अपवर्ग का अर्थ मोक्ष भी है।

रूपक की दृष्टि से यह सब सही क्यों है? कहने का ढंग ही तो है। शिव जी के सिर से गंगा निकलती है, यह कहने के बजाय यह कहकर देखिये — जिसके सिर से गंगा निकलती है, वह शिव है। अब किसके सिर से गंगा निकलती है, यह भूगोल का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। हिमालय भारत का सिर है, इसी हिमालय से गंगा (मन्दाकिनी) निकलती है — ‘हिमवतः गंगा प्रभवति’ इसका फलितार्थ यह हुआ कि भारत ही वह शिव है जिसके सिर से गंगा निकलती है। अब पवर्ग रचित उक्त रूपक के शेष शब्दों को एक

एक करके ले लीजिए। पिनाक यानी धनुष — धनुर्विद्या और धनुर्वेद के विकास के लिए क्या संसार में भारत के सिवाय और कोई देश भी प्रसिद्ध है? धनुषवाण के रूप में संसार के इस सर्वप्रथम प्रक्षेपास्त्र का निर्माण और प्रथम आविष्कार भारत में नहीं तो और कहां हुआ? फणी के साथ भी यही बात है। सारे संसार में ‘साँपों के देश’ के नाम से सिवाय भारत के और कौन सा देश प्रसिद्ध है? कुछ अन्य देशों में भी साँप बेशक होते हैं, पर साँप की जितनी किस्में और नस्लें इस देश में हैं उतनी और किसी देश में नहीं। फिर, भारत के सँपेरे, जिनकी बीन का जादू विदेशों में होने वाले भारत महोत्सवों में भी लोगों को मुग्ध किये बिना नहीं छोड़ता। इसलिए साँपों के देश वाला लक्षण भी भारत पर ही घटता है।

बालेन्दु — शुभ्र चांदनी का द्योतक है। जैसी स्वच्छ चांदनी भारत में है, वैसी और कहां। ‘सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका’—यह उक्ति निरभ्र आकाश में शीतल और आल्हाददायिनी चन्द्रिका का वर्णन करते हुए किसी भारतीय कवि के मुख से ही निकल सकती है। पाश्चात्य देशों के लिए तो स्वच्छ धूप और स्वच्छ चांदनी दोनों ही दुर्लभ हैं इसलिए जिस दिन धूप निकल आए वह उनके लिए ‘व्हाट ए फाइन डे’ बन जाता है।

भस्म — तो स्पष्ट है। अंग अंग भस्म रमाये साधु सिवाय भारत के और किस देश में मिलेंगे। जिन नागा साधुओं का एकमात्र आवरण भस्म ही होती है, वे निरावरण साधु भारत में ही सुलभ हैं — जिनकी शाहियां (जलूस) हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर निकलती हैं और हर की पौड़ी पर उस दिन सर्वप्रथम स्नान करने का अधिकार परम्परा से उन्हें ही प्राप्त है।

मन्दाकिनी की बात ऊपर आ ही चुकी है। इस प्रकार पर्वग रचित यह शिव का सारा रूपक भारत पर ही घटित होता है। इसलिए जब आप असली शिव की खोज पर निकलेंगे, तब क्या इन रूपकों के फलितार्थों को हृदयंगम किए बिना किसी निष्कर्ष पर पहुंच सकेंगे? इसलिए शिवरात्रि के दिन ‘क्या यही सच्चा शिव है’ — इस प्रश्न के उदय को जिस प्रकार आप आत्मचेतना का विस्फोट कहते हैं, मुझे उसमें राष्ट्रचेतना भी छिपी हुई दिखाई देती है।

कैलाश और कन्याकुमारी

शिव के रूपक का एक और चमत्कार भी देखिए। शिव कैलाश पर निवास करते हैं और पार्वती कन्याकुमारी में तपस्या कर रही हैं। तपस्या का लक्ष्य क्या है —

कोटि जनम ते रगर हमारी ।
वरहुं शम्भु न तौ रहौं कुर्वाँरी ॥

अब शिवजी कैलाश पर और पार्वती कन्याकुमारी में – भूगोल की दृष्टि से दोनों स्थानों की दूरी में दो हजार मील का अन्तर। इस दूरी को पाटे बिना शिव और पार्वती का विवाह कैसे हो? विवाह नहीं होगा, तो पार्वती कुंवारी रह जाएगी, निरी कुमारी कन्या (कन्या कुमारी)। इसलिए विवाह अनिवार्य है। शिव पार्वती के विवाह की कथा का यह रूपक भी क्या राष्ट्रीय भावात्मक एकता (नेशनल इमोशनल इंटिग्रेशन) का द्योतक नहीं है! यों सामान्यतया कैलाश पर शिवजी को और कन्याकुमारी में पार्वती को प्रतिष्ठित करके भारत की उत्तरी और दक्षिणी सीमा को ही जन-जन के मन में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है। जिस युग में भूगोल पुस्तकों में नहीं लिखा जाता था, उस युग में ऐसी कथाओं और रूपकों से ही भूगोल को स्मरणीय बनाया जाता था। यह पौराणिक भाषा में भारत का भूगोल ही तो है।

ब्रह्मा और विष्णु

यद्यपि विष्यान्तर का भय है, पर यहीं ब्रह्मा और विष्णु के भी रूपकों का थोड़ा संकेत कर देना अनुचित नहीं होगा। तभी ब्रह्मा, विष्णु, महेश – इन त्रिदेवों की त्रिपुटी के एकत्र समाधान की सम्भावना है।

विष्णु को शंख-चक्र-गदा-पदमधारी चतुर्भुज के रूप में चित्रित किया जाता है। ऐसा व्यक्ति भी भौतिक जगत् में असम्भव है, सृष्टि नियम के सर्वथा प्रतिकूल। पर रूपक की दृष्टि से वह भी अत्यन्त अर्थगर्भित है। इसका संकेत मुझे मिलता है उस श्लोक से जिसे आरथावान् हिन्दू प्रातःकाल उठते ही पृथ्वी पर पांव रखने से पहले उच्चारण करता है, जो इस प्रकार है –

समुद्रवसने देवि पर्वत-स्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

यह समुद्र की साड़ी पहनने वाली और पर्वतों के स्तनमण्डल को धारण करने वाली विष्णु पत्नी – लक्ष्मी भूमि माता या भारत माता नहीं तो और क्या हैं?

यह भूमिमाता रत्नगर्भा है, वसुन्धरा है, अन्नपूर्णा है। इसी के खेतों से तरह तरह के खाद्यान्न और वनों से नाना वनस्पतियां और औषधियां पैदा होती हैं। सोना, चांदी, लोहा, ताम्बा और न जाने कौन कौन सी धातुएं इसी के गर्भ से निकलती हैं। 'ब्लैक गोल्ड' (काला सोना) कहलाने वाला कोयला और

'लिकिवड गोल्ड' (तरल सोना) कहलाने वाला पेट्रोल इसी की कोख की देन है। इस पेट्रोल का महत्व कितना है, इसका अनुमान इस बात से लगाइए कि इसकी आपूर्ति के लिए हमें सोना तक गिरवी रखना पड़ता है। इस खनिज तेल से अब तो उपोत्पाद के रूप में लगभग 500 चीजें तैयार होती हैं और पेट्रोकैमिकल्स के नाम से विज्ञान की एक अलग शाखा ही चल पड़ी है। यदि राष्ट्र विष्णु है, तो यह भारतमाता विष्णुपत्नी है, साक्षात् लक्ष्मी है।

वेद में 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' इस मंत्र में जिस आर्यराष्ट्र की कल्पना की गई है, वह क्या पूरी की पूरी विष्णु के 'शंख चक्र गदा पद्मधारी' चतुर्भुज रूप में समाहित नहीं है? राष्ट्र के अज्ञान को दूर करने वाले ब्राह्मण का प्रतीक है शंख, राष्ट्र के अभाव को दूर करने के लिए नाना देश देशान्तर का चक्कर लगाने वाले वैश्य का प्रतीक है चक्र, राष्ट्र में अन्याय को दूर करने वाले क्षत्रिय का प्रतीक है गदा और राष्ट्र के आलस्य को दूर कर अपने श्रम से खेतों में और कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों का प्रतीक है पद्म। बुद्धिजीवी, शस्त्रजीवी, धनजीवी और श्रमजीवी शिक्षक, रक्षक, पोषक और श्रमिक के रूप में जब विष्णुरूपी राष्ट्र की भुजाएं बन कर कार्य करते हैं, तब आर्यराष्ट्र का स्वप्न साकार होता है। श्रम के बिना धन नहीं आता, श्रम में ही लक्ष्मी निवास करती है, जिस धन के साथ व्यक्ति के स्वेदकण नहीं जुड़े हैं वह कालाधन है, श्वेतधन नहीं। बिना श्रम के उपार्जित कालेधन ने आज एक ऐसी समानान्तर सरकार खड़ी कर दी है कि उसके सामने वास्तविक सरकार भी विवशता अनुभव करती है। आज देश के भयंकर आर्थिक संकट का मुख्य कारण यही है। 'पुष्पिण्यौ चरतो जंघे' — चलने वाले, श्रम करने वाले व्यक्ति की जांधों में फूल खिलते हैं, ऐतरेय ब्राह्मण के इस वचन में और विष्णु के एक हाथ में पद्म धारण करने में क्या अन्तर है?

रहे ब्रह्मा। वे तो साक्षात् वेदोपदेष्टा हैं, ज्ञान-विज्ञान के आगार हैं। ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती उनकी पुत्री है। उनकी उपासना का सीधा अर्थ है -- ज्ञान की उपासना। सारे देश में विष्णु और शिव के मन्दिर तो सैंकड़ों हैं, पर ब्रह्मा जी के मन्दिर केवल दो हैं — एक पुष्कर में और दूसरा गोहाटी में। विष्णु और शिव के उपासक भी हजारों-लाखों हैं, पर ब्रह्मा जी के उपासकों की गिनती नगण्य है। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि अब भारत के निवासियों की ज्ञान की आराधना में रुचि नहीं रही।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश की एक व्यवहार-संगत व्याख्या और भी है। जो भी

व्यक्ति छात्रावस्था में विद्या की आराधना करता है, वह प्रकारान्तर से ब्रह्मा की उपासना है। जब गृहस्थ में प्रवेश करता है और घर में गृहिणी के रूप में घर की लक्ष्मी प्रवेश करती है, तब वह विष्णु का उपासक है और जब वानप्रस्थ में वैराग्य धारण कर निवृत्ति मार्ग की ओर बढ़ता है, तब शिव का उपासक है। और शिवजी श्मशान में निवास करते हैं तो चतुर्थ आश्रम में श्मशान जाने का अवसर भी उपस्थित हो ही जाता है। इस प्रकार वैदिक धर्म के कालिदास-प्रोक्त चतुराश्रम वर्णन की प्रतीक है त्रिदेवोपासना। यथा—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

आप कहेंगे — ऋषि दयानन्द ने मूर्तिपूजा का इतना प्रबल खण्डन किया है जैसा और किसी ने नहीं किया और आप प्रच्छन्न रूप से रूपकादि के व्याज से उसी का समर्थन कर रहे हैं। मेरा कहना यह है कि रूपक और अलंकार आदि साहित्यिक रसास्वादन के लिए हैं, वे कल्पना-विलास और मानव की रागात्मक वृत्ति की तृप्ति के लिए हैं, व्यावहारिक जीवन में तो ठोस सत्य का ही आश्रय लेना पड़ता है। हिन्दू समाज से गलती यह हुई कि उसने इन रूपकों और आलंकारिक वर्णनों को जीवन का अंग बना लिया। जो रूपक आत्मचेतना से सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना की ओर ले जाने वाले होने चाहिए थे, वे मूर्तिपूजा के रूप में न आत्मचेतना के वाहक बने, न सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के। इस जड़पूजा ने सारे राष्ट्र को जड़ बना दिया — ऐसा जड़ जिसमें किसी भी प्रकार की चेतना नहीं रही।

भवित्काल की विशेषता

मैं मानता हूं कि अब से लगभग 500 वर्ष पहले राष्ट्र के प्रत्येक प्रदेश में जो भवित्काल का युग आया और प्रत्येक प्रदेश में उस उस प्रदेश की भाषा में सन्त कवि पैदा हुए, वह देश की अद्भुत सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है। यदि समग्र देश में सांस्कृतिक एकता का यह मणि-सूत्र न होता, तो यह कैसे सम्भव था कि प्रत्येक प्रान्त में लगभग एक साथ भक्त सन्त कवि पैदा होते। यह चमत्कार इतिहासकारों को आश्चर्य में डाल सकता है। दक्षिण भारत में अलवार सन्त, मध्याचार्य, निम्बार्कचार्य और वल्लभाचार्य आदि आचार्य, महाराष्ट्र में सन्त तुकाराम, ज्ञानेश्वर, नामदेव और समर्थ गुरु रामदास, बंगाल में चैतन्य देव, जयदेव, हरिदास, असम में शंकरदेव, सुदूर

केरल में स्वाति तिरुमाल, गुजरात में नरसी मेहता, राजस्थान में मीरा और राज्ञुल, उत्तर भारत में सूर, तुलसी और कबीर तथा पंजाब में गुरु नानक – इन सबका लगभग एक साथ एक ही काल में उदय जिस आन्तरिक अन्तः सलिला के समान उद्गम का परिचायक है, वह अद्भुत है। इस भक्तिकाल में, और तो और ऐसे लगभग 50 मुसलमान सन्त भक्त कवि हुए हैं जिनके विषय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का कहना था –

इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिक हिन्दू वारिये ।

यह भक्तियुग का व्यापक विस्फोट एक तरह से ज्ञान काण्ड के और कर्मकाण्ड के युग के प्रति विद्रोह का सूचक है। ज्ञानमार्ग यदि राजतंत्र था, और कर्ममार्ग सामन्ततंत्र, तो भक्ति मार्ग विशुद्ध लोकतंत्र था जिसमें ज्ञान और कर्म दोनों की उपेक्षा करके केवल भक्ति पर बल दिया गया था – ऐसी भक्ति जिसमें सर्वण अवर्ण, अमीर गरीब, शिक्षित अशिक्षित सभी को समान स्थान था। वहां तो 'ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय' की पूछ थी, वहां ज्ञान और कर्म की पूछ कहां। यह मुगलों की गुलामी के दौर में राष्ट्र के लिए ऐसा मंदिर आसव था जिसमें सारा राष्ट्र आपादमस्तक ढूब गया – देश में सैंकड़ों-हजारों मन्दिर बन गए और दक्षिण से चली भक्ति की आंधी सारे देश में छा गई। इस भक्तियुग में आत्ममुग्धता और आत्महीनता की भावना थी, रेत में गर्दन छिपाने वाले शुतुर्मुर्ग की तरह सारे देश ने गुलामी के उस दौर को सहजभाव से स्वीकार कर लिया और उसके प्रतिकार का कोई सामूहिक और राष्ट्रीय कार्यक्रम नहीं अपनाया। इसीलिए जड़पूजा को अपनाकर जाति ने येन केन प्रकारेण जीवित रहने का आधार तो तैयार कर लिया, पर उसका तेज नष्ट हो गया।

इस भक्तिकाल के मूल में आत्मचेतना के साथ जो राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना का तत्व छिपा था, उसे सर्वथा भुला दिया गया। उसके लिए मैं फिर विष्णु पुराण का श्लोक उद्धृत करूँगा –

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

देवता लोग भी उनके गीत गते हैं जिन्होंने भारतभूमि में जन्म लिया है क्योंकि वे धन्य हैं। देवताओं के लिए केवल स्वर्ग निर्धारित है, अपर्ग नहीं, पर

भारतभूमि के निवासी स्वर्ग और अपवर्ग दोनों के अधिकारी हैं। यह स्मरण रखिए कि देवता स्वर्ग से बँधे रहने के लिए अभिशप्त हैं, अपवर्ग उनके लिए नहीं है।

पर मानव के लिए स्वर्ग और अपवर्ग दोनों हैं। यह 'फरिश्ते से बेहतर है इन्सान बनना', नहीं तो और क्या है? ज्ञानकाण्ड और याज्ञिक कर्मकाण्ड ने परलोक पर बल दिया था और भवितकाण्ड ने इस लोक पर -- इस सीमा तक कि स्वयं भगवान् को वैकुण्ठधाम छोड़कर इस भारतभूमि में अवतार लेना पड़ा। क्या राष्ट्रीय चेतना का इससे अधिक सबल तत्व भी कुछ और हो सकता है? पर उस तत्व की जिस प्रकार उपेक्षा हो गई, उसने ऋषि दयानन्द को विचलित कर दिया। इस भवितकाल में जितना श्रृंगार-प्रधान काव्य रचा गया, वह रीतिकालीन काव्य की एक प्रमुख धारा ही बन गई। इस रीतिकालीन काव्य में नायिका भेद और उनके नख-शिख की चर्चा ही कवियों की उत्कृष्टता की कसौटी बन गई -- और उस सबका आधार बनी कृष्ण और राधा के नाम पर जोड़ी गई पौराणिक कथाएं, जिनमें सत्य का कहीं लेश भी नहीं था।

जड़ता की पराकाष्ठा

हमारे ज्ञानमार्गी और भवितमार्गी किस प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना से हीन हो चुके थे, इसके लिए ऋषि के कलकत्ता-कथ्य के कुछ उद्घरण देना प्रासंगिक होगा। ऋषि सन् 1855 में पहली बार कुम्भ के मेले पर गए थे और वहां उन्होंने साधुओं को सन् 1857 की राज्यकान्ति के लिए संगठित करने का प्रयत्न किया था। इसी प्रसंग में वे कहते हैं —

"शंकराचार्य के चारों मठों से सम्बन्धित हजारों सन्न्यासी और ब्रह्मचारी कुम्भ मेले में उपस्थित हुए थे। मैंने उनके चारों शंकराचार्यों से और प्रधान प्रधान सन्न्यासियों से केवल साधु संगठन के लिए उपदेश, परामर्श और सहयोग मांगा था। मेरी प्रार्थना थी — "आप में से कई एक सन्न्यासी आ जाइये। हम लोग सारे भारतवर्ष में कम से कम एक हजार सन्न्यासी संगठित और भिलित हो जायें। हमारे उद्देश्य रहेंगे — (1) वेदप्रतिपादित धर्म का उद्धार और प्रचार करना, (2) सामाजिक आदर्श और मर्यादा को देशवासियों के सम्मुख स्थापित करना, (3) देश को विदेश और विदेशियों के प्रभाव से मुक्त करना, (4) देश के मंगल के लिए मन और जीवन समर्पित कर देना। आप में से कोई न कोई इस

कार्य के संचालक, कर्णधार बन जाइए।

“हमारी इस प्रार्थना पर चारों मठों के चारों शंकराचार्य और बड़े-बड़े संन्यासियों ने इस आशय पर अपने मनोभावों को इस प्रकार प्रकट कर दिया -- “हम ब्रह्मवादी संन्यासी हैं, अद्वैतवादी हैं। हमारे लिए ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। राष्ट्र, समाज, परिवार, जीवन, जगत् और ये सब स्वतंत्रता-परतंत्रता, वर्ण, आश्रम, हमारा-तुम्हारा भाव सब कुछ मिथ्या है। मिथ्या के लिए हम कुछ भी करना व्यर्थ समझते हैं।

“हम उन्हें केवल यह कहकर चले आए थे -- “दुःख की बात है कि आपके भोजन के लिए अन्न, पीने के लिए पानी, रहने के लिए स्थान, सर्दी के लिए कम्बल, (गर्मी में) हवा के लिए पंखा और सेवा के लिए शिष्य ही एकमात्र सत्य स्पष्ट हो रहे हैं, शेष सभी कुछ मिथ्या मालूम पड़ते हैं।

“इसके बाद निराश होकर मैं वैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान प्रधान नेताओं के पास गया था। ये लोग भी कुम्भ में हजारों की संख्या में एकत्र हुए थे। ये लोग द्वैतवादी और वैष्णव-भक्त हैं।

‘वैष्णवों के अन्दर सम्प्रदाय बहुत हैं। इन सम्प्रदायों के बड़े-बड़े गोस्वामी, महन्त, गुरु और साधु-संन्यासी हरिद्वार के कुम्भ मेले में सम्मिलित हुए थे। मैंने सभी की सेवा में उपस्थित होकर देश, राष्ट्र और समाज की शोचनीय दशा के प्रति दृष्टि आकर्षण करके अपनी दोनों प्रार्थनाओं को पूर्ववत् रखा था। इन्होंने भी दूसरे ढंग की भाषा का प्रयोग करके मुझको निराश कर दिया था।

“उन सबके कहने का सारांश यह था -- ‘हमारे ये शरीर श्रीराम या श्रीकृष्ण के भजन के लिए हैं, दूसरे कार्य के लिए नहीं हैं। दूसरे कार्य का करना, भगवान् के स्थान में देश, समाज और राष्ट्र की सेवा करना महापाप है। मानव शरीर व्यर्थ कार्य के लिए नहीं है। महाप्रभु की सेवा और चिन्तन से मुक्ति मिलेगी, देश-समाज-राष्ट्र की वैषयिक चिन्ता से भगवद्भक्ति ढीली हो जाएगी, मुक्तिलाभ या गोलोक वैकुण्ठ जाने के मार्ग में प्रबल बाधायें आ जाएंगी। मानव जीवन इतना सस्ता नहीं है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके तब भक्ति-साधना के एकमात्र अवलम्बन भजन के लिए शरीर मिला है। इन शरीरों को देश-समाज-राष्ट्र की भजन-विरोधी सेवा के लिए समर्पण करना बुद्धिमानों का कार्य नहीं है।

“वैष्णव गुरुओं से निराश होकर लौटते समय मैंने केवल यह वाक्य कहा था — “जिस देश में ऐसे भक्तों की संख्या अधिक है, उस देश का सर्वनाश निश्चित है।”

(ऋषि दयानन्द सरस्वती का अपना जन्म चरित्र,
सम्पादक - आदित्यपाल सिंह और ३० वेदव्रत आलोक)

मूर्तिपूजा का अभिशाप

जड़ मूर्ति की पूजा ने भक्तों को इस सीमा तक आलसी, निष्क्रिय और कायर बना दिया कि वे देश-समाज-राष्ट्र की सेवा को महापाप तक कहने लगे। इससे बढ़कर देश का दुर्भाग्य और क्या होगा? इस मूर्तिपूजा ने जहां लोगों को भाग्यवादी और कर्म-विमुख बनाया, वहां नाना सम्प्रदायों ने परस्पर वैर-विरोध-विद्वेष की लहर भी चलाई। सभी पौराणिक मूर्तिपूजक सम्प्रदाय अपने अपने इष्टदेव को सबसे बड़ा देवता और अन्यों के इष्टदेव को उसका अनुचर और कृपाकांक्षी सेवक बताने लगे। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदाय परस्पर विद्वेष की आग में इस प्रकार जलने लगे कि दूसरे सम्प्रदाय वाले को देखते ही मुँह फेर लेते। माथे पर कितनी खड़ी या पड़ी रेखाएं लगती हैं, यही सबसे बड़ा कर्मकाण्ड बन गया। इकबाल ने ठीक ही लिखा था —

सच कह दूं ऐ बिरहमन! गर तू बुरा न माने।
अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीखा ॥

अपनों से वैर और गैरों से मुकाबले के समय मूर्ति की सर्वशक्तिमत्ता पर भरोसा -- यही तो देश की पराधीनता का मुख्य कारण था। प्रश्न वही है न - “क्या यही सच्चा शिव है जो अपने सिर पर से चूहों को भी नहीं हटा सकता?” सिन्ध में जिस तरह राजा दाहर की पराजय हुई, सोमनाथ मन्दिर को जिस तरह निर्मता-पूर्वक लूटा गया, बखित्यार खिलजी ने जिस प्रकार बौद्ध मठों को और नालन्दा को भूमिसात् किया, थोड़ी सी घुड़सवार सेना के बल पर बिहार और बंगाल को पामाल किया और उसके विरोध में कोई संगठित प्रयत्न नहीं किया गया — इस राष्ट्रीय कलंक के मूल में मूर्तिपूजा के द्वारा उत्पन्न सामाजिक नपुंसकता ही सबसे बड़ा कारण है। इसलिए ऋषि दयानन्द जैसा राष्ट्रचेता मूर्तिपूजा के विरुद्ध खड़गहस्त न होता, तो क्या करता। मूर्तिपूजा के इस प्रबल खण्डन में राष्ट्र-चेतना ही प्रमुख कारण है।

केवल वेद नहीं

मैं भी मानता हूं कि ऋषि दयानन्द यदि शरीर है तो वेद उसकी आत्मा है। महर्षि जैमिनि के पश्चात् ऋषि दयानन्द जैसा वेदोद्धारक पैदा नहीं हुआ। इसलिए जिस तरह मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम 'धनुर्धरी' के नाम से विख्यात हैं, और श्रीकृष्ण 'बंसीवाले' या 'मुरलीधर' के नाम से, एवं गुरु गोविन्द सिंह 'कलगी वाले' के नाम से, इसी तरह से कुछ लोग ऋषि दयानन्द को भी 'वेदां वाले सन्ता, स्वामी दिगन्त, जग को जगा दिया तूने', - कहते हुए मस्त होकर गाते हैं। 'वेदां वाले सन्ता' कहने में वही एकांगिता है जो श्रीकृष्ण को केवल 'बंसीवाला' कहने में। क्या श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्रधारी रूप की किसी भी रूप में अवहेलना की जा सकती है? पर भक्त सम्प्रदाय ने कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र को भुला कर वृन्दावन को रस और रास की लीलास्थली बना दिया और श्रीकृष्ण को वहीं तक सीमित कर दिया। इसी तरह केवल वेद वेद का नारा लगाने वालों ने भी ऋषि दयानन्द के राष्ट्रीय चेतना वाले स्वरूप को ओङ्कार कर दिया। तभी मुझे यह नारा लगाना पड़ा कि आर्यसमाज की दो भुजाएं हैं - एक वेद और दूसरी राष्ट्र। जो केवल एक भुजा की बात करता है वह आर्य समाज को विकलांग बना देना चाहता है। अंग्रेजों के पिटटुओं ने और ब्रिटिश सेवा से ऐश्वर्य-सम्पन्न बने लोगों ने ही इस बात पर सबसे अधिक जोर दिया कि आर्यसमाज केवल वेद को मानने वाली एक धार्मिक संस्था है, उसका राष्ट्र या राजनीति से कोई वास्ता नहीं। जितना जितना उसके धार्मिक स्वरूप पर जोर दिया जाता है, उतना उतना मेरे मन में आक्रोश बढ़ता जाता है, क्योंकि राष्ट्रीयता से विहीन धर्म केवल एक सम्प्रदाय बन कर रह जाता है -- जिस तरह ईसाईयत या इस्लाम। इसीलिए ईसाईयत या इस्लाम में राष्ट्रवाद का कोई स्थान नहीं है, जबकि वैदिक धर्म में राष्ट्र की उपासना भी धर्म का अंग है, क्योंकि राष्ट्रचेतना ही अन्त में विश्वचेतना का माध्यम बनती है। जिस तरह मैं आत्मचेतना को राष्ट्रचेतना का मूल मानता हूं उसी तरह राष्ट्रचेतना को विश्वचेतना का मूल मानता हूं। इसीलिए मैं 'जयंहिन्द' की सीढ़ी के बिना 'जयजगत्' के नारे को हवाई और खोखला मानता हूं। पर आजकल के भक्तों और धार्मिक लोगों को राष्ट्रीय शान्ति की उतनी चिन्ता नहीं, जितनी विश्व शान्ति की है। इसीलिए जहां देखो वहां विश्वशान्ति के नाम पर यज्ञों, कीर्तनों और पूजापाठ की भरमार है। जो अपने सिर पर छत का इन्तजाम नहीं कर सकते, वे 'आकाश बांधूँ पाताल बांधूँ' के कुलाबे मिलाते रहें, इसमें पलायनवादी मानसिक विलास और भक्तजनों के आर्थिक

शोषण की पौराणिक परम्परा नहीं तो और क्या है? एक खास बात यह भी ध्यान देने की है कि आर्यसमाज के स्वनामधन्य नेताओं ने जितना राष्ट्रीयता-विहीन धार्मिक संस्थावाद पर जोर दिया, आर्य जनता ने उतना नहीं। आर्य जनता सदा राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत रही। और तो और, ये आर्यनेता अपने पुत्रों को भी इस राष्ट्रचेतना से नहीं बचा सके। स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, महाशय कृष्ण, महात्मा आनन्दस्वामी -- चारों आर्य नेताओं के पुत्र क्रान्तिकारी बने।

मैं तो यहां तक कहता हूं कि जिस तरह ऋषि दयानन्द ने वेदमंत्रों के अर्थ किए हैं और सब प्रकार के पाखण्डों, अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों के जनक होने के पौराणिक वेदाभिमानी पण्डितों द्वारा लगाए गए कलंक से मुक्त किया है, उसके पीछे राष्ट्रीय चेतना ही प्रमुख कारण थी। यदि उनके मन में यह राष्ट्रचेतना न होती, तो हो सकता है कि वे वेदों को इस रूप में उपस्थित न करते। क्या ऋषि दयानन्द से पहले किसी भी पूर्ववर्ती भाष्यकार ने वेदमंत्रों के राष्ट्रपरक और राजनीति-परक अर्थ करने का साहस किया है? इसका मूल कारण यही है कि पूर्ववर्ती भाष्यकारों में ऋषि जैसी राष्ट्रचेतना का विकास नहीं हुआ था, वे केवल आत्मचेतना के स्तर तक ही रह गए थे।

जब ऋषिवर सन् 1855 में पहली बार हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर गए थे, उससे पहले वे लगभग दस वर्ष तक योगियों, साधुओं, तान्त्रिकों और नाना मत-मतान्तरों में फँसे सामान्य नागरिकों के सम्पर्क में आए थे और उन्होंने देश की दुर्दशा का निकट से अवलोकन किया था। इसी कारण उनकी आत्मचेतना राष्ट्रचेतना में विकसित होती जा रही थी। मेरे लिए यह प्रश्न गौण है कि सन् 1857 की प्रथम राज्यक्रान्ति में ऋषि ने कोई सक्रिय भाग लिया या नहीं। मेरे लिए मुख्य यह है कि उनमें जिस सीमा तक राष्ट्रचेतना का परिपाक हुआ था, वह उनको शान्त नहीं बैठने दे सकती थी। उन्होंने 1857 के स्वातंत्र्य-समर में सक्रिय भाग लिया हो या न लिया हो, पर इस पर तो किसी को विवाद नहीं है कि उन्होंने उस राज्यक्रान्ति को अपनी ओँखों से विफल होते देखा था और उनकी राष्ट्रचेतना भविष्य में वैसी पराजय के प्रतिकार के लिए उन्हें किसी रचनात्मक दिशा को सोचने के लिए विवश कर रही थी। उसी मानसिक उथल-पुथल के बीच वे सन् 1860 में गुरु विरजानन्द की शरण में मथुरा पहुंचे थे।

ऋषि की स्वोपज्ञ प्रतिभा

गुरु विरजानन्द व्याकरण के सूर्य थे। व्याकरण को वेदों का मुख बताया गया है। गुरु विरजानन्द ने अपने इस अद्भुत चेतनावान् बाल ब्रह्मचारी शिष्य को वेद पढ़ाये हों, इसमें मुझे सन्देह है। हाँ, उन्होंने एक गुरुमंत्र अवश्य दिया था - और वह गुरुमंत्र था - सदा ऋषि-कृत (आर्ष) ग्रन्थों को आदर देना, मनुष्यकृत ग्रन्थों को नहीं। इस गुरुमंत्र के माध्यम से ही ऋषि शनैः शनैः स्वोपज्ञ प्रतिभा से ही, वेदों तक पहुंचे। यह मैं इसलिए कहता हूं कि गुरु द्वारा दिए गए मंत्र से ऋषि को एक कस्तौटी तो मिल गई थी, पर यदि गुरु विरजानन्द ने अपने शिष्य को वेदों के मर्म तक पहुंचा दिया होता, तो ऋषिवर गुरु से विद्याध्ययन के पश्चात् जयपुर में शैव मत का मण्डन न करते, और एक श्रद्धालु भक्त को वेदान्त का प्रौढ़ ग्रन्थ 'पंचदशी' न पढ़ाते। यह उनके मानसिक मन्थन का और अन्तर्दृष्टि का दौर था। इसीलिए मन में कभी कभी शंकाएं भी उठतीं। उनका पत्र द्वारा गुरु से समाधान पूछते। इसी तरह मन्थन करते करते, राष्ट्रचेतना को रचनात्मक दिशा देने की बात सोचते सोचते, अन्त में वेद की उस विशेषता तक पहुंचे जो सारे देश की धार्मिक एकता का सबल सूत्र बन सकती थी। जिस तरह देश के समस्त धार्मिक मतभेदों को दूर करने के लिए उन्हें वेद के रूप में एक संजीवनी बूटी मिल गई, और उन्होंने वेद को उसी रूप में उजागर करने का मन में निश्चय किया, उसी तरह उन्हें जाति-पाँति के नाम पर विभाजित राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने के लिए भी जिस संजीवनी की तलाश थी, वह वेद प्रतिपादित 'आर्य' शब्द में मिल गई। इसी तरह अनेक भाषाओं में बंटे देश को एक करने का रामबाण नुस्खा 'आर्यभाषा' शब्द में मिल गया। उनकी दृष्टि में सन् 1857 की पराजय का मूल कारण था देश की आपसी फूट, उस फूट का कारण था -- धार्मिक मतभेद, जातिभेद और भाषा-भेद। तो उनके मन में देश के समस्त मतभेदों को दूर करने के लिए जो समीकरण बना, वह इस प्रकार था -- समस्त देशवासियों का एक राष्ट्र—आर्यवर्त, समस्त देशवासियों का एक धर्म—वैदिक धर्म। समस्त देशवासियों की एक जाति —आर्यजाति, समस्त देशवासियों की एक भाषा—आर्यभाषा। अब मैं आपसे ही पूछता हूं कि यदि आप धार्मिक दृष्टि से समग्र राष्ट्र को एक करना चाहें तो आपके पास वेद के सिवाय और क्या माध्यम है? यदि विभिन्न जातियों और बिरादरियों में बंटे समाज को एक करना चाहें तो सबको आर्य कहने के सिवाय और क्या उपाय है। आर्य के साथ 'आर्या नैव दासः' अर्थात् आर्य कभी किसी के

गुलाम नहीं होते, यह भावना भी तो छिपी है। इसी तरह अपनी अपनी मातृभाषा के मोह में और संकीर्ण प्रदेशवाद में बंटे देश को एक करने का माध्यम सिवाय हिन्दी के और क्या है? यह था भारत की भावनात्मक एकता का मूलमंत्र—जिसकी जड़ में राष्ट्रचेतना थी।

जब ऋषि सन् 1867 में दुबारा हरिद्वार के कुम्भ के मेले पर गए थे, तब बहुत कुछ इसी विचारधारा से ओतप्रोत थे। (यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी को 'आर्यभाषा' के रूप में मान्यता देने की बात उनके मन में सन् 1872 में कलकत्ता जाने के पश्चात् ब्रह्म समाज के नेता आचार्य केशवचन्द्र की प्रेरणा से आई, इससे पहले वे 'आर्यभाषा' के रूप में प्रमुख स्थान संस्कृत को ही देने के पक्षधर थे।) इसी विचारधारा को लेकर उनकी राष्ट्रचेतना को रचनात्मक दिशा मिल गई और उसी द्वितीय कुम्भ के अवसर पर सर्वस्व त्यागी, केवल कौपीनधारी, बालब्रह्मचारी, अवधूत दयानन्द ने दृढ़ मानसिक संकल्प के साथ पाखण्ड खण्डनी पताका गाड़ दी — जैसे किसी पहलवान ने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ अपना लंगर अखाड़े में घुमा दिया हो।

फिर तो जैसे भागीरथी हिमालय की कन्दराओं से निकल कर मैदानों में आती है, विशाल भूभाग को अपने अमृत-जल से हरा-भरा बनाती है और उसका पाट निरन्तर चौड़ा और चौड़ा होता जाता है, — क्योंकि अन्य अनेक सहायक नदियां भी उसके साथ आकर मिल जाती हैं, वैसे ही ऋषि दयानन्द भी हिमालय की कन्दराओं से और निरन्तर योगियों की खोज से निकल कर कर्मक्षेत्र में उतरते हैं। अब उन्हें एकान्त योग साधना में भी स्वार्थ की गन्ध आने लगती है। यह जन-संकुल कर्मक्षेत्र कठिन है, पदे पदे विपदाओं और लांछनाओं से भरा है, विरोधियों के अपशब्दों और स्वागतार्थ ईंट पत्थरों की बौछारों से ओत-प्रोत है, पर जो व्यक्ति इतनी प्रखर राष्ट्रचेतना से भरा है कि उसे अपने ही देशवासियों द्वारा किया गया यह विरोध और तिरस्कार भी सहर्ष स्वीकार है, उसके राष्ट्रप्रेम को आप क्या कहेंगे? यहीं पर राष्ट्रचेतना की प्रखरता की परीक्षा होती है। और ऋषि इसमें खरे उतरते हैं। उनकी यह राष्ट्रचेतना इन विरोधों-प्रतिरोधों के बावजूद दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है और उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व राष्ट्रमय बन जाता है। तभी तो योगिराज अरविन्द घोष ने उनके सम्बन्ध में कहा था — "He had the national instinct and he was able to make it luminous." — The man and his work. उनमें राष्ट्रीय चेतना थी और उनमें इतनी योग्यता भी थी कि उसे निरन्तर उद्दीप्त करते रह सकें। योगिराज अरविन्द के इन शब्दों को

जरा इस सन्दर्भ में भी सोचकर देखें कि कभी श्री अरविन्द स्वयं देश के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी थे और प्रबल राष्ट्रचेतना से ओत-प्रोत होकर राष्ट्र की आजादी के लिए संघर्ष करते थे। परन्तु देश की दुर्बलता उन्हें असाध्य लगी, तो वे राष्ट्रचेतना छोड़कर आत्मचेतना की ओर मुड़ गए। वह मार्ग उन्हें अधिक सुविधाजनक लगा। ऋषि दयानन्द का केस इससे उलटा है। वे योग के सुविधाजनक मार्ग को छोड़कर जानबूकर कण्टकाकीर्ण दुर्गम मार्ग की ओर बढ़े थे — यह निरन्तर राष्ट्रचेतना के उद्दीपन का प्रतीक नहीं था, तो क्या था कितने सटीक थे अरविन्द के शब्द! कहते हैं कि जब सन् 1872 में ऋषि दयानन्द कलकत्ता गए थे तब उनकी भेंट श्री रामकृष्ण परमहंस से भी हुई थी। रामकृष्ण परमहंस ने इस भेंट के बाद कहा था कि इस संन्यासी से आलिंगन करने के बाद मुझे ऐसा लगा जैसे कि इसके वक्ष में निरन्तर राष्ट्रप्रेम की ज्वाला धधकती हो। डा. भवानीलाल भारतीय इस घटना को प्रामाणिक नहीं मानते। हो सकता है, इन दोनों महापुरुषों की यह कथित भेंट न हुई हो। पर जिसने भी यह बात फैलाई, उसमें सत्य अवश्य है।

ऋषि दयानन्द में यह राष्ट्रचेतना केवल भावनात्मक स्तर पर नहीं थी, प्रत्युत इसकी सांगोपांग सैद्धान्तिक रूपरेखा जैसी उनके मन में स्पष्ट थी, वैसी किसी अन्य राष्ट्रचेता व्यक्ति के जीवन में दिखाई नहीं देती। इस बात को सिद्ध करने के लिए कुछ थोड़ा विस्तार में जाना पड़ेगा।

देश, राष्ट्र, राज्य

तीन शब्द हैं — देश, राष्ट्र और राज्य (country, nation, state) हम प्रायः सामान्य बोलचाल की भाषा में इनको समानार्थक मानकर प्रयोग करते रहते हैं। पर तत्त्वतः तीनों में अन्तर है।

प्राचीन ऋषियों ने दीर्घकालीन अनुभव के पश्चात् यह सिद्धान्त स्थापित किया था — ‘यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे’ — जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है — जो व्यष्टि में है, वही समष्टि में है, जो अणु में है, वही अणुओं के संघात से बने समस्त पदार्थों में है। पंजाबी में ‘पिण्ड’ का एक अर्थ शरीर है, तो दूसरा अर्थ गांव भी है। व्यक्तिगत शरीर सामाजिक इकाई है, तो ग्राम राज्य की इकाई है।

जैसे मनुष्य केवल शरीर नहीं है, उसकी आत्मा भी है। बिना आत्मा के शरीर निष्प्राण है, केवल मिट्टी है। शरीर मरणधर्म है, आत्मा अविनाशी है। इसी तरह चारों दिशाओं में फैला कोई भी भूखण्ड देश है — उसमें नदी-

पर्वत-वन-मैदान सब शामिल हैं। पर केवल भूखण्ड निष्ठाण है जब तक उसमें कुछ लोग न बसते हों, ऐसे लोग जो उसे अपना समझते हों, उसकी प्राणपण से रक्षा के लिए कटिबद्ध हों। ये देश के निवासी 'जन' (जनता) हैं, इन्हीं से कोई देश राष्ट्र कहलाता है। फिर उस राष्ट्र की अपनी एक विचारधारा भी होती है, जो उसकी संस्कृति कहलाती है। यह संस्कृति उस देश की आत्मा है। फिर यदि वह देश किसी राजनीतिक व्यवस्था से बंधा हो, तो वह राज्य कहलाता है। क्या भारत एक देश है, एक राष्ट्र है, एक राज्य है? इस सम्बन्ध में ऋषि का मन्तव्य क्या है? इस पर विचार करें। इस पर विचार करना इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि हमारे अनेक बुद्धिजीवी यह कहते नहीं अघाते कि यह देश एक कभी रहा ही नहीं, यह एक राष्ट्र नहीं — अनेक राष्ट्रों का समुच्चय है, और भारत कभी किसी एक राजनीतिक व्यवस्था के अधीन नहीं रहा। इस सम्बन्ध में मनुस्मृति के दो श्लोक द्रष्टव्य हैं —

सरस्वती दृष्टदत्यो देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देव निर्मितं देशं ब्रह्मावर्त प्रचक्षते ॥
आसमुद्रात् वै पूर्वादासमुद्रात् पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥
(अध्याय 2, 17-18)

इन दोनों श्लोकों पर कुल्लूक भट्ट की टीका देखिए —

सरस्वती दृष्टदत्यो नृद्योरुभयोर्मध्यमार्यावर्तं देशमाहुः। देवनदी देवनिर्मितं शब्दौ नदीदेश प्राशस्यार्थौ ॥१७॥

आ पूर्व समुद्रात् आ पश्चिमसमुद्रात् हिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यं तमार्यावर्तदेशं पण्डिता जानन्ति। मर्यादायामयमाङ् नाभिविधौ। तेन समुद्रमध्यद्वीपानां नार्यावर्तता। आर्या यत्रावर्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्तः ॥२२॥

इनका अर्थ इस प्रकार है—सरस्वती और दृष्टदत्यो नदियों के बीच का जो प्रदेश है उसे आर्यावर्त कहते हैं। देवनदी और देवनिर्मित शब्द नदियों की प्रशंसा के लिए हैं।

पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य का जो प्रदेश है उसे पण्डित लोग आर्यावर्त जानते हैं। यहां आङ् प्रत्यय मर्यादा के अर्थात् सीमा के अर्थ में है, अभिविधि के अर्थ में नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि समुद्र के मध्य में जो टापू हैं वे आर्यावर्त के अंग नहीं हैं। आर्य लोग यहां बारम्बार पैदा होते रहते हैं, इसलिए इसे आर्यावर्त कहते हैं।

सरस्वती और दृषद्वती

इन दोनों श्लोकों की टीका में कुल्लूकभट्ट ने सरस्वती और दृषद्वती नदी कौन सी है, इसकी कोई व्याख्या नहीं की। अन्य विद्वानों ने इन नदियों की जो पहचान की है, उससे भारत का सारा भूगोल आमक बन गया है। आज तक भी सरस्वती नदी कौनसी है, पुरातत्वज्ञ लोग इसका फैसला नहीं कर सके। प्रयाग के त्रिवेणीसंगम में सरस्वती नदी के लुप्त होने की कथा प्रचलित है। एक सरस्वती नदी बद्रीनाथ के ऊपर माना गांव के पास अलकनन्दा की सहायक नदी है जिसके पास महाभारतकार महर्षि व्यास का आश्रम माना जाता है। माना गांव के बाहर वह गुफा भी है जिसमें बैठकर महर्षि व्यास ने पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार गणेश जी को बोलकर महाभारत लिखवाया था। गुफा सचमुच दर्शनीय है। एक सरस्वती नदी की खोज प्रसद्धि पुरातत्वज्ञ वाकगकर ने की है जिसका प्रस्तवण क्षेत्र उन्होंने राजस्थान के रेगिस्तान में खोजा है। एक सरस्वती कुरुक्षेत्र में भी है।

इसी तरह दृषद्वती नदी कौन सी है, इस पर भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कोई उसे घरघर नदी बताता है, तो कोई कुछ। इस विषय में ऋषि ने सत्यार्थ प्रकाश में जो स्पष्टीकरण किया है, वह किसी और ने नहीं किया। अब तक आर्य विद्वानों ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। मैं ऋषि दयानन्द की इस प्रतिभामयी राष्ट्रचेतना पर चकित हूँ क्योंकि उनके स्पष्टीकरण से भारतीय भूगोल की सारी समस्या हल हो जाती है। मैं हैरान हूँ कि अन्य विद्वानों ने इस ओर ध्यान क्यों नहीं दिया। क्या यह हमारी कूपमण्डूकता और अन्य विद्वानों द्वारा ऋषि दयानन्द की धोर उपेक्षा का द्योतक नहीं है? देखिए ऋषि क्या लिखते हैं –

“सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकल कर बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर दक्षिण के समुद्र में मिली है जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है।”

(अष्टम समुल्लास, पृष्ठ 194, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी उपहार संस्करण,
श्री भगवद्वत् रिसर्च स्कॉलर द्वारा सम्पादित)

इससे स्पष्ट है कि सरस्वती सिन्धु नदी है जो मानसरोवर से निकल कर भारत की पश्चिमी सीमा का निर्धारण करती हुई, लद्दाख से होकर पाकिस्तान होती हुई अरबसागर में गिरती है। यह सरस्वती सिन्धु नदी ही

है, इसका एक प्रमाण वेद में भी है। वेद का एक मंत्र खण्ड है – “पंचनद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः” पांच नदियां अपनी सहायक नदियों के साथ सरस्वती में जाकर मिलती हैं। यह सरस्वती सिवाय सिन्धु के और कौन सी नदी हो सकती है जिसमें सतलुज, व्यास, रावी, चिनाब और जेहलम ये पांचों प्रसिद्ध नदियां जाकर मिलती हैं। हम वेद में इतिहास या भूगोल नहीं मानते। इसलिए आर्यसमाजी विद्वान् इस मंत्र खण्ड का यह अर्थ भी करते हैं कि पांच नदियों का अर्थ है। – पांचों ज्ञानेन्द्रियां और उनके सरस्वती में मिलने का अर्थ है कि ये पांचों ज्ञानेन्द्रियां सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होती हैं। पर मेरा निवेदन है कि आप वेद को काव्य मानते हैं और ऐसा काव्य जो कभी जीर्ण नहीं होता और मरण को प्राप्त नहीं होता (“पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति”), तो काव्य में तो व्यंजना और ध्वनि को उत्कृष्टता की कसौटी माना जाता है। ‘काव्य प्रकाश’ और ‘साहित्य दर्पण’ दोनों व्यंजना प्रधान ध्वनिकाव्य को सर्वोत्तम मानते हैं। फिर वेद के काव्य में व्यंजना क्यों नहीं होगी? न सही वेद में भूगोल और इतिहास, पर व्यंजना को आप कैसे रोक सकते हैं? वेद तो ऐसी व्यंजनाओं और अलंकारों से भरा पड़ा है। क्या सरस्वती के सिन्धु नदी होने का ऐसा सटीक प्रमाण कहीं और मिल सकता है?

अब अगला श्लोक देखिए। पूर्व समुद्र स्पष्ट रूप से बंग सागर है और पश्चिम समुद्र अरब सागर। जो बात सरस्वती और दृष्टवती के बारे में कही गई, उसी का पूर्ण परिपाक पूर्व समुद्र और पश्चिम समुद्र के रूप में उजागर हुआ है। अर्थात् केवल उक्त दोनों नदियां ही भारत की पूर्व और पश्चिम सीमा की घोतक नहीं हैं, प्रत्युत जिन समुद्रों में वे दोनों नदियां गिरती हैं वे समुद्र भी भारत की पूर्वी और पश्चिमी सीमा के निर्धारिक हैं। परन्तु श्लोक की दूसरी पंक्ति ‘तयोरेवान्तरं गिर्योः आर्यावर्त विदुर्द्युधाः’ -- ने बखेड़ा खड़ा कर दिया। दोनों पर्वतों का अर्थ किया गया – हिमालय और विन्ध्याचल-उनके बीच का प्रदेश ही आर्यावर्त है। इसी श्लोक के आधार पर समस्त पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वान् यह कहते नहीं अघाते कि दक्षिण भारत आर्यावर्त का भाग नहीं है। वह तो मूलतः अनार्य और द्रविड़ प्रदेश है जिसे आर्यों ने बहुत बाद में विजित किया। हम स्वयं चकित थे कि इस श्लोक के रहते हम दक्षिण भारत को साथ मिलाकर एक और अखण्ड भारत की बात कैसे कर सकते हैं। क्योंकि विन्ध्याचल तो भारत के कटिप्रदेश में मेखला की तरह जड़ा है, मेकल कन्यका नर्मदा वहीं से

निकलती है। उससे दक्षिण का प्रदेश आर्यवर्त का भाग नहीं है। पर वाह रे ऋषि तेरी प्रतिभा की बलिहारी! जिस तरह तू ने सरस्वती और दृष्टद्वती की सही व्याख्या करके भारी समस्या का समाधान कर दिया, उसी तरह विन्ध्याचल का भी यथार्थ वर्णन करके पूर्व और पश्चिम के सब इतिहासकारों के अनर्गत प्रलाप को शान्त कर दिया। देखिए इस श्लोक की व्याख्या करते हुए ऋषि क्या लिखते हैं –

विन्ध्याचल कहां है?

“उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र। ... हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं उन सबको आर्यवर्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यवर्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया । और आर्यजनों के निवास करने से आर्यवर्त कहाया है।”

(सत्यार्थ. अष्टम समुल्लास, पृष्ठ 195, वही संस्करण)

देखा आपने, विन्ध्याचल भारत के मध्यभाग में स्थित नहीं, वरन् ठेठ रामेश्वर पर्यन्त है। यह बात भी आज तक क्या किसी और विद्वान् ने कही है? नहीं न। फिर ऋषि ने किस आधार पर यह अनोखी बात कह दी। ऋषि कभी प्रमाण-विरुद्ध बात नहीं कहते पर इस स्थल पर ऋषि ने प्रमाण का उल्लेख नहीं किया। अब मेरे सामने समस्या उपस्थित हो गई कि इसका प्रमाण कहां खोजा जाए ? अन्ततोगत्वा, खोजते खोजते वह प्रमाण वाल्मीकि रामायण में मिला। तब ऋषि की आपत्ता पर मेरी श्रद्धा और अडिंग हो गई। वाल्मीकि रामायण का वह श्लोक इस प्रकार है –

दृष्टः पक्षिगणाकीर्णः कन्दरोदर कूटवान् ।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चयः ॥

(वाल्मीकि रामायण, किञ्चिन्धा काण्ड, सर्ग 60, श्लोक 7)

पक्षिगणों से भरा हुआ, कन्दराओं और छोटे-मोटे अनेक शिखरों से समन्वित, दक्षिण समुद्र के किनारे यह विन्ध्याचल ही है, यह निश्चय है। अर्थात् विन्ध्याचल भारत के कटिप्रदेश में स्थित पर्वत नहीं, वरन् हिन्द महासागर के किनारे स्थित रामेश्वर के पास उस स्थान से प्रारम्भ होता है जिसे आजकल पक्षितीर्थ कहते हैं।

प्रसंगवश, यह कहने का प्रलोभन मैं रोकना नहीं चाहता। जब हालैण्ड के डच लोग जिनका इंडोनेशिया पर कब्जा था, उस प्रदेश को छोड़कर जाने लगे, तो

एक हिलस्टेशन को छोड़ने को तैयार नहीं हुए। डच लोगों का कहना था कि इस हिल स्टेशन को तो हमने बसाया है, इसलिए यह हमारे ही नियंत्रण में रहना चाहिए। यह ठीक वैसी ही बात होती जैसे कि अंग्रेज यहां से जाते समय कहते कि हम शिमला के हिल स्टेशन को नहीं छोड़ेंगे, क्योंकि इसको तो हमने आबाद किया है। तब इंडोनेशिया के निवासियों के दावे की रक्षा वाल्मीकि रामायण के ही एक श्लोक ने की थी। वह श्लोक इस प्रकार है -

यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः ।

दिवं स्पृशति शृंगेण देवदानवसेवितः ॥

(किंकिर्ण्धा काण्ड, सर्ग 40, श्लोक 31)

अर्थात् जावा द्वीप को लांघकर एक शिशिर नाम का पर्वत है जिसमें देवता और दानव दोनों रहते हैं और जो अपने शिखर से आसमान को छूता है।“ वाल्मीकि रामायण में इंडोनेशिया के इस पर्वत का नाम पाकर डच लोगों को यह स्थान भी छोड़कर जाना पड़ा।

ऋषि के इस वर्णन से सम्पूर्ण भारत के मानचित्र का क्या रूप बनता है, यह देखिए। मेरा समाधान यह है -- यह देश दो त्रिभुजों से बना है। एक त्रिभुज ऊपर है, एक नीचे। ये दोनों त्रिभुज उलटे रखे हुए हैं। ऊपर के त्रिभुज का शीर्ष बिन्दु है -- कैलाश पर्वत (जिस पर शिवजी का निवास माना गया है)। इस त्रिभुज की दो भुजाएं हैं-सिन्धु और ब्रह्मपुत्र (जिसे तिब्बत में त्सांगपो कहते हैं)। सिन्धु वाली भुजा देश की पश्चिमी सीमा का निर्धारण करती है, और ब्रह्मपुत्र वाली भुजा पूर्वी सीमा का। इस त्रिभुज का आधार है मध्यवर्ती विन्ध्याचल जो मेखला की तरह सारे मध्यभाग को लपेटे हुए है। उक्त दोनों देवनदियां क्रमशः अरब सागर और बंग सागर में गिरती हैं, ये दोनों सागर दक्षिण भारत की पूर्वी और पश्चिमी सीमा के द्योतक हैं।

एक दूसरा त्रिभुज नीचे है जिसका शीर्ष बिन्दु कन्याकुमारी है (जहां पार्वती विराजमान है)। इस त्रिभुज की भी दो भुजाएं हैं -- एक पूर्वी घाट और दूसरी पश्चिमी घाट। इस त्रिभुज का आधार भी मध्यवर्ती विन्ध्याचल है। ऊपर और नीचे के ये दोनों त्रिभुज एक दूसरे से उलटे रखे हुए हैं, पर दोनों की आधार भुजा एक ही है- मध्यवर्ती विन्ध्याचल। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण की दिशाओं में फैले इस देश के भूभाग का निर्माण दो त्रिभुजों से हुआ है। इसी को शतपथ ब्रह्मण में 'उभयथा प्रउग' (दो प्रकार के त्रिभुज) के रूप में सम्बोधित किया गया है। देश का ऐसा भौगोलिक मानचित्र ऋषि की प्रतिभा के बिना हमारे समक्ष कभी यथार्थ रूप से स्पष्ट नहीं हो पाता।

राष्ट्र क्या है?

पर भूभाग तो राष्ट्र का शरीर मात्र है, उसकी आत्मा तो है उसकी संरकृति। केवल जड़ भूखण्ड की उपासना से कुछ होने वाला नहीं है, जब तक राष्ट्र की संस्कृति की रक्षा नहीं होगी। यहां भी ऋषि की प्रतिभा का चमत्कार यह है कि ऋषि दृष्टि में वह संस्कृति है – वैदिक संस्कृति, अर्थात् वेद पर आधारित संस्कृति, जबकि अन्य सब राष्ट्रचेता व्यक्ति उसे भारतीय संस्कृति या समिश्र संस्कृति (composite culture) कहते हैं। इन राष्ट्रचेताओं का कहना है कि इस देश में केवल आर्य संस्कृति नहीं, अनार्य, मुगल और आंग संस्कृतियों का भी घालमेल है, इसलिए केवल वैदिक संस्कृति या वेद की बात करना अनुचित है। पर मैं इससे सहमत नहीं हूं। मेरा तर्क यह है कि गंगोत्री और गोमुख से निकलने के बाद गंगा ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है त्यों त्यों उसमें अन्य नदी-नाले, कारखानों के उच्छेष और तटवर्ती नगरों के मलमूत्र से भरे गन्दे नाले भी गिरते चले जाते हैं और गंगा का प्रदूषण इतना बढ़ जाता है कि उसके जल में वह तासीर नहीं रहती। कलकर्ते पहुंचकर तो उसका नाम भी बदल जाता है—वहां वह हुगली कहलाती है। पर प्रदूषण तो प्रदूषण है। रंग-रूप, स्वच्छता, तासीर, नाम बदल जाने पर भी वह तब तक गंगा ही रहेगी जब तक गंगोत्री का स्रोत अक्षुण्ण है। इसलिए जिसे हम समिश्र संस्कृति कहते हैं, वह तो प्रदूषण की परिचायक है, असली संस्कृति तो वैदिक संस्कृति ही है, वही इस भूखण्ड में चैतन्य भरती है।

इसी से यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि ऋषि दयानन्द क्यों इस बात पर जोर देते थे कि अन्य सब मतमतान्तर एक बार यह स्वीकार कर लें कि हम सब का आदि स्रोत वेद है, फिर भले ही वे अपनी अपनी उपासना-पद्धति और कर्मकाण्ड अपनाते रहें, इसमें उनको छूट रहेगी, परन्तु जब भी प्रदूषण रहित गंगा की खोज होगी तब सब मतों की गंगोत्री – वेद -- को ही प्रामाणिक मानना होगा। सन् 1877 के दिल्ली दरबार में उन्होंने सब मतावलम्बियों को इसी सत्य की ओर आकृष्ट करना चाहा था, क्योंकि राष्ट्रीय एकता का यह महत्वपूर्ण पहलू था। पर अन्य लोगों में वह राष्ट्रचेतना नहीं थी इसलिए वे ऋषि के इस मन्तव्य से सहमत नहीं हो सके। आज भी देश का यही दुर्भाग्य है।

इस प्रकार देश और राष्ट्र एक चीज नहीं है। दोनों में अन्तर है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में जीवात्मा होने के कारण ही वह जीवित रहता है, उसी प्रकार कोई देश भी अपनी संस्कृति से ही प्राणवान् बनता है। राष्ट्र

मुख्य है, देश गौण है। राष्ट्र का मुख्य घटक है उसमें रहने वाला समाज, जन। जिस तरह मनुष्य के शरीर और आत्मा को जोड़ने वाला तत्व है मन, उसी तरह जन राष्ट्र की संस्कृति और उसके भूखण्ड को जोड़ता है। इस जन के बिना देश और राष्ट्र दोनों अलग-थलग पड़ जाते हैं।

राष्ट्र के घटक क्या हों, यह सबसे महत्वपूर्ण है। उन्हें ही राष्ट्र का नागरिक माना जाना चाहिए। उन नागरिकों की राष्ट्र के प्रति निष्ठा होनी आवश्यक है। ये नागरिक अपने देश के भूखण्ड से प्यार करते हैं, क्योंकि यह उनकी जन्मभूमि है। इसी भूखण्ड ने उनके लालन-पालन और भोजनाच्छादन के साधन जुटाये हैं। इसीलिए इसे वे भूमिता (भारतमाता) और वन्देमातरम् कहकर सम्बोधित करते हैं। इकबाल ने कहा है –

खाके-वतन का मुझको हर जर्जा देवता है।

इसी भूखण्ड में देशभक्त हिन्दू 'कंकर कंकर में शंकर' के दर्शन करते हैं। पर जिनको 'वन्देमातरम्' कहने पर आपत्ति है, वे इस देश को अपना नहीं मानते। उनका अपनत्व कहीं और है। मेरी दृष्टि में राष्ट्र के घटकों के लक्षण इस प्रकार होने चाहिए –

(1) जो बिना मजहब, जाति, जन्मस्थान, लिंग, रंग इत्यादि के भेदभाव के इस राष्ट्र का अंग बन कर रहना चाहते हैं, वे ही इस देश के नागरिक होंगे।

(2) जो स्वीकार करते हैं कि इस पूर्ण जगत् का निर्माता, संचालक, और रक्षक एक महान् शक्तिशाली परमात्मा है। उसकी सृष्टि के कुछ नियम हैं। जो उसकी सत्ता और उसके नियमों में आस्था रखता है, वही इस राष्ट्र का घटक है।

(3) जो समाज के विद्वानों, शूरवीरों, सेनानायकों और समाज की आततायियों से रक्षा करने वालों का आदर करता है।

(4) जो देश के धन-धान्य की केवल रक्षा ही नहीं, वरन् सतत वृद्धि के लिए यत्नशील रहता है।

(5) जो दुर्गम आदि पोषक पदार्थों के स्रोतों को पुष्ट और विस्तृत करने में तत्पर रहता है।

(6) जो राष्ट्र के योगक्षेम को अपना कर्तव्य समझता है।

(7) जो सामूहिक व्यवहार में सब घटकों को एक परिवार का अंग मानता है और व्यक्तिगत हितकारी कामों में स्वतंत्रता का उपभोग करते हुए भी सामाजिक हितकारी कामों में परतंत्रता को स्वीकार करता है।

वही जन इस राष्ट्र के घटक अर्थात् नागरिक माने जाएंगे।

जिस प्रकार देश और राष्ट्र एक चीज नहीं है, उसी प्रकार राष्ट्र और राज्य भी एक चीज नहीं है। राष्ट्र राज्य से ऊपर है। राष्ट्र ही राज्य का और राजनीतिक प्रणाली का निर्धारण करता है, इसलिए राज्य का सर्वप्रथम कर्तव्य राष्ट्र की ओर राष्ट्र के जन की रक्षा करना, दुष्टों को दण्ड देना और सज्जनों की रक्षा करना, सबके साथ न्याय करना है। अगर राष्ट्र का जन किसी राज्य को या राज्यप्रणाली को नहीं चाहता तो उसके अस्तित्व का कोई वैधानिक अधिकार नहीं बनता। राज्य का मुख्य कार्य है –

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

जो राज्य सज्जनों का परित्राण और दुष्टों का विनाश नहीं कर सकता उसे राज्य कहलाने का अधिकार नहीं है। जिस तरह प्रजा का या राष्ट्र के जन का राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य है, उसी तरह राज्य का भी प्रजा के प्रति कुछ कर्तव्य होता है। स्वेच्छाचारिता राज्य का कर्तव्य नहीं है। कर्तव्यपूर्ति से ही राजा के या प्रजा के कुछ अधिकार बनते हैं। कर्तव्य नहीं, तो अधिकार भी नहीं। आज की सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि अधिकार की बात सब करते हैं, कर्तव्य की बात कोई नहीं करता। राजा और प्रजा दोनों राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों से बंधे हुए हैं। दोनों को अपने आप से पूछना चाहिए कि मैंने राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कहां तक किया है। आज राजा और प्रजा में से यह कोई नहीं कहता कि मैंने राष्ट्र के लिए क्या किया, हरेक यह कहता है कि राष्ट्र ने मेरे लिए क्या किया है? और यह कह कर राष्ट्र को लूटने-खोसोने में लगा रहता है। राजा का या राज्य का कर्तव्य क्या है और प्रजा का कर्तव्य क्या है – इसका पूरा विवेचन ऋषि ने सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में किया है। अन्यत्र भी इस विषय पर स्थान स्थान पर संकेत दिए हैं। और तो और, मनुष्यता का लक्षण करते हुए 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' प्रकाश में ऋषि कहते हैं –

मनुष्य की परिभाषा

"मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् हो तथापि उसका नाश, अवनति

और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् – जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावे परन्तु इस मनुष्य रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।

इसमें श्रीमान् महाराज भर्तृहरि जी आदि ने श्लोक कहे हैं, उनका लिखना उपयुक्त समझ कर लिखता हूं –

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशातु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥
(नीतिशतक-84)

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्म त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥”
(महाभारत् उद्योग पर्व 40/13)

जिस परिस्थिति में मनुष्य की यह परिभाषा की गई है जब तक उस पृष्ठ-भूमि को ध्यान में नहीं रखेंगे तब तक इसका पूरा महत्व समझ में नहीं आएगा। उस समय अंग्रेजों का राज्य था और सारा देश आत्महीनता के बोध से उस दुर्दमनीय पराधीनता के सामने अपने आपको विवश अनुभव कर रहा था। उस परिस्थिति में चक्रवर्ती सप्राट् का अन्यायकारी के रूप में उल्लेख करना और उसके विनाश के लिए मानवता का आहवान करना – इससे बढ़कर क्रान्ति का उदघोष और क्या हो सकता है? मनुष्य की इस परिभाषा के एक एक शब्द को तौलिये और देखिये कि 1857 की राज्यक्रान्ति के नेता भी इससे बढ़कर क्या कोई प्रेरणा भारतवासियों को दे सकते थे ? राष्ट्रचेतना का इतना उग्र रूप सिवाय ऋषि दयानन्द के और कहां मिलेगा?

राष्ट्रचेतना की इस प्रखरता के एक-दो-उदाहरण और दूंगा।

1 नवम्बर सन् 1858 को महारानी विकटोरिया ने लार्ड केनिंग के दरबार में सन् 57 के विद्रोहियों को क्षमादान की जो प्रसिद्ध घोषणा की थी उसमें कहा गया था –

"To all those in arms against the government, we hereby promise unconditional pardon, amnesty and oblivion of all offences against ourselves, our crown and dignity, on their return to their homes and peaceful pursuits . . . When by the blessings of providence, internal tranquility shall be restored, it is our earnest desire to stimulate the peaceful industry in India, to promote works of public utility and improvement and to administer its government for the benefit of all our subjects residents therein. In their prosperity will be our strength, in their contentment our security, and in their gratitude our best reward. . . .

"Firmly relying ourselves on the truth of christianity and acknowledging with gratitude the solace of religion, we disclaim alike the right and the desire to impose our convictions on any of our subjects. We declare it to be our royal will and pleasure that none be any wise favoured, none molested and disqualified by reason of their religious faith and observance, but that all shall alike enjoy the equal and impartial protection of the laws, and we do strictly charge and enjoin all those who may be in authority under us that they abstain from all interference with the religious belief or worship of any of our subjects on pain of our highest displeasure."

विकटोरिया को जवाब

इसका भाव यह है कि --

'जिन्होंने हमारी सरकार के विरुद्ध हथियार उठाए थे उनको हम बिना किसी शर्त के क्षमादान करते हैं और आशा करते हैं कि वे अपने अपने घरों और कामधन्धों पर लौट जाएंगे। जब आन्तरिक शान्ति स्थापित हो जाएगी तब हमारी तीव्र इच्छा है कि हम भारत में शान्तिपूर्ण उद्योगों को प्रोत्साहन दें, जनोपयोगी और उन्नति के कार्यों को आगे बढ़ाएँ और अब अपनी सारी प्रजा के हित की दृष्टि से काम करें। उनकी समृद्धि ही हमारी शक्ति होगी, उनकी सन्तुष्टि ही हमारी सुरक्षा होगी और उनकी कृतज्ञता ही हमारा सर्वोत्तम पुरस्कार होगा।

"हालांकि हमारा ईसाइयत में दृढ़ विश्वास है और इसके द्वारा मिली शान्ति को हम स्वीकार करते हैं, फिर भी अपनी किसी प्रजा पर अपने विश्वासों को हम लादना नहीं चाहते। हम अपनी यह शाही इच्छा घोषित करते हैं कि अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण किसी के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाएगा और किसी को अयोग्य नहीं माना जाएगा, न ही किसी के साथ ज्यादती की जाएगी। इसके विपरीत

सबको समान रूप से कानून का निष्पक्ष संरक्षण प्राप्त होगा और अपने अधीन समस्त कर्मचारियों को हम आगाह करते हैं कि यदि किसी ने हमारी प्रजा के धार्मिक विश्वास और पूजाविधि में दखल दिया तो उसे हमारे तीव्र कोप का शिकार होना पड़ेगा।”

उस समय के अन्य राष्ट्रचेता नेता किस ढंग से सोचते थे उसका उदाहरण सन् 1885 में कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के सभापति श्री उमेशचन्द्र बनर्जी के अध्यक्षीय भाषण के इस समापन अंश से विदित होता है –

“ग्रेट ब्रिटेन ने हमें शान्ति और व्यवस्था दी है। उसने हमें रेलवे दी है और सबसे बढ़ कर पाश्चात्य शिक्षा का अमूल्य वरदान दिया है। पर अभी बहुत कुछ किया जाना शोष है। यूरोप में शासन के सम्बन्ध में जो विचार वर्तमान समय में प्रचलित हैं, यदि भारतीय लोग उनके अनुसार अपने देश के शासन के संचालन की इच्छा करें तो यह बात ब्रिटिश सरकार के प्रति उनकी भक्ति की भावना में किसी प्रकार बाधक नहीं होगी। भारतीयों की केवल यही आकांक्षा है कि सरकार के आधार को और विस्तृत किया जाए और जनता का उसमें समुचित हाथ हो।”

इससे स्पष्ट है कि इन राष्ट्रचेताओं के मन में विदेशी शासन को अनुचित मानने की कोई बात नहीं थी। उनमें अभी तक स्वराज्य और पूर्ण राजनीतिक स्वाधीनता की कल्पना भी उत्पन्न नहीं हुई थी। उनके लिए यही पर्याप्त था कि ब्रिटिश शासक किसी तरह यह विश्वास कर लें कि भारत में भी एक ऐसा वर्ग है जो शिक्षा, ज्ञान आदि की दृष्टि से पर्याप्त उन्नत है और वह ब्रिटिश शासन का पूर्ण वफादार रहकर शासन में अंग्रेजों की सहायता कर सकता है। इसीलिए उस युग के कांग्रेस के इन अधिवेशनों में विकटोरिया की जय जयकार की जाती थी और बाद में सप्ताह पंचम जार्ज के समय 'long live the king' का गीत भी सोत्साह गाया जाता था। आपको यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि आज जो 'जनगणमन' वाला गीत हमारा राष्ट्रगान बना हुआ है, वह सबसे पहले कांग्रेस के ऐसे ही एक अधिवेशन में सप्ताह पंचम जार्ज की स्तुति में ही पढ़ा गया था। अन्यथा 'जनगणमन अधिनायक' सम्बोधन का कोई अर्थ नहीं था। क्या इस युग के कांग्रेसी नेताओं में और उस युग के कांग्रेसी नेताओं में ब्रिटिश भक्ति की भावना में कहीं कोई नाममात्र भी अन्तर है ? भावना बस यही थी -- “हुजूर माई बाप, एक दुकड़ा इधर भी।”

इन सब राष्ट्रचेता नेताओं के विपरीत ऋषि दयानन्द की राष्ट्रचेतना कितनी प्रखर थी, उसका यह एक ही उदाहरण पर्याप्त है। ऋषि सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में लिखते हैं –

“कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।”

इस कथन के भी एक एक शब्द को गहराई से सोचिये, तो आप देखेंगे कि यह महारानी विकटोरिया की घोषणा का तुर्पी-ब-तुर्पी जवाब है। अंग्रेजों के उस दमनकारी राज्य में क्या कोई और नेता इस प्रकार की बात कहने की हिम्मत कर सकता था? कांग्रेस के जन्म से भी दस वर्ष पहले ऋषि यह कह रहे थे, पर कांग्रेस वाले बाद में भी सन् 1929 तक वही राग अलापते रहे। हथकड़ी-बेड़ी पहनाकर हलवा खाने को स्वर्गीय सुख मानने वाला आजादी की सूखी रोटी की महिमा को कैसे जान सकता है? दासता की मनोवृत्ति में और स्वाधीनता की मनोवृत्ति में यही अन्तर है।

इससे भी बढ़कर एक और उदाहरण दूंगा। ऋषि सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में लिखते हैं –

“जब संवत् 1914 के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर, मूर्तियां अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्तियां कहां गई थीं? प्रत्युत वाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति मक्खी की एक टांग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण सदृश कोई होता तो इनके धुरें उड़ा देता और ये भागते फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाये, उसके शरणागत क्यों न पीटे जाएं ?”

वाघेर कौन थे?

इस घटना के वर्णन से लगता है कि जैसे ऋषि इसके प्रत्यक्षदर्शी हों, क्योंकि भारत के किसी और इतिहासकार ने किसी इतिहास की पुस्तक में इसका उल्लेख तक नहीं किया। पर हम आर्यसमाजी भी कितने कूदमग्ज हैं कि ऋषि के निधन के लगभग 57 साल बाद तक भी हम यह नहीं जान पाए कि संवत् 1914 का अर्थ ईसवी सन् 1857 है। सन् 40 के आस पास जब यह भान हुआ कि यह तो 1857 के समय की घटना है, तब वाघेर लोग

कौन थे, यह समस्या खड़ी हो गई, क्योंकि किसी को इसकी जानकारी नहीं थी। मैंने स्वयं अपनी प्रथम द्वारिका यात्रा के समय वहां के पुरातत्व संग्रहालय के क्यूरेटर से मिलकर इस बारे में जानना चाहा, पर उनसे भेट नहीं हो सकी। गुजरात के भी कई अनुसन्धानप्रिय विद्वानों से इस सम्बन्ध में पता लगाने को कहा। अन्त में ऋषि-जीवनी की खोज के लिए पूर्णतः समर्पित, भोपाल के श्री आदित्यपाल सिंह ने हाल में ही इस समस्या का समाधान खोज निकाला। अब से कुछ वर्ष पहले तक वे भी इस घटना का कोई सन्तोषजनक हल नहीं जान पाए थे। सन् 1980 में अजय बुक सर्विस, दरियांगंज, दिल्ली से प्रकाशित कैप्टिन एच० बिलबरफोर्स-बेल द्वारा लिखित 'दि हिस्ट्री आफ काठियावाड़ फ्राम दि अर्लिएस्ट टाइम्स' नामक पुस्तक के पृष्ठ 214-215 में इस घटना का उल्लेख है। उसका सार यह है –

"सन् 1817 में अंग्रेजों ने ओखामण्डल बड़ौदा के गायकवाड़ को सौंप दिया था। जिन वाघेर लोगों की भूमि छिन गई थी उन्हें पेंशन दी जा रही थी। तभी से वाघेर लोग अपनी जमीन वापिस हासिल करने के लिए आन्दोलन करते आ रहे थे। सन् 1857 में गायकवाड़ की सरकार ने पेंशन में गड़बड़ शुरू कर दी। इससे पेंशन पाने वालों को एक बहाना मिल गया। उन्होंने संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। अन्त में गायकवाड़ ने ब्रिटिश सेना की सहायता ली। लेफ्ट. वार्टन के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना ने संघर्ष को कुचलना चाहा। इस बीच वाघेर लोगों ने द्वारिका के किले पर कब्जा कर लिया। तब ब्रिटिश सेना ने और कुमुक मंगाकर जबर्दस्त हमला करके किला खाली करवाया। फैसला यह हुआ कि गायकवाड़ स्वयं विद्रोहियों के विरुद्ध कार्रवाई करेंगे। तब ब्रिटिश सेना वहां से हटी और गायकवाड़ की फौजों ने बसाई पर नियंत्रण स्थापित किया, किन्तु वाघेर लोगों ने किले का घेरा नहीं छोड़ा। अन्त में दोनों में समझौता हुआ। सन् 1857 की राज्यक्रान्ति से प्रेरित होकर वाघेर लोगों ने सन् 1859 में सामूहिक रूप से जोधो माणिक के नेतृत्व में सारे ओखामण्डल प्रायद्वीप को घेर लिया। तब गायकवाड़ के प्रतिनिधि ने जिले के सारे मामले अंग्रेजों को सौंप दिये और कर्नल होनर के नेतृत्व में विद्रोह को शान्त करने के लिए ब्रिटिश सेना भेजी गई। वाघेर काठियावाड़ में घुस गए और उन्होंने अबपुरा पहाड़ियों पर मोर्चा लगाया। अन्त में उसी वर्ष दिसम्बर में उन्हें पराजित होना पड़ा।"

इस सन्दर्भ में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वाघेर लोगों की वीरता की प्रशंसा करते हुए 'अंग्रेजों के धुर्ए उड़ाने' की कामना की गई है। मैं आपसे पूछता हूं कि क्या अंग्रेजों के राज्य में कोई 'अंग्रेजों के धुर्ए उड़ाने, की बात कहने की हिम्मत कर सकता था? यह हिम्मत वही व्यक्ति कर सकता था जिसे अंग्रेज 'बागी फकीर' कहते थे। ऐसे प्रखर राष्ट्रचेतना वाले व्यक्ति को यदि अंग्रेज अपना दुश्मन नं. 1 न समझें, तो क्या समझें ?

राष्ट्रचेतना का अग्निपुंज

ऋषि ने अपने वेदभाष्य में स्थान स्थान पर चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की प्रार्थना वेदमंत्रों में की है, उनके या सत्यार्थप्रकाश के विदेशी शासन के विरोध सम्बन्धी अन्य प्रसंगों का मैं उल्लेख करके अपने वक्तव्य को बोझिल नहीं बनाना चाहता। पर मैं आर्यसमाज को मात्र धार्मिक संस्था कहकर धर्म के अफीम वाले रूप से जनता को राष्ट्रचेतना से दूर से दूर रखने का प्रयत्न करने वाले, धर्म के कर्मकाण्ड-प्रधान रूप पर निरन्तर जोर देने वाले और उसी में अपनी इतिकर्तव्यता समझने वाले धर्मधवजियों से पूछना चाहता हूं कि यदि ऐसी ही बात थी तो सत्यार्थप्रकाश में छठे समुल्लास को रखने का क्या औचित्य था -- जिसमें राज्य और शासन के ही विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है? एकादश समुल्लास के अन्त में महाभारत से लेकर पृथ्वीराज पर्यन्त राजाओं की नामावली देने की कौन सी संगति है? जीवन के अन्तिम दिनों में राजस्थान की विभिन्न रियासतों में जाकर राजाओं को वैदिक और भारतीय राजनीति की शिक्षा देने और उनसे राजकुमारों तथा क्षत्रिय बालकों को शस्त्रास्त्र की शिक्षा देने के लिए क्षात्रशाला खोलने का आग्रह करने की क्या तुक है?

महाकवि भारवि ने लिखा है —

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं
चयमास्कन्दति भरमनां जनः ।
अभिभूतिभयादसूनतः
सुखमुज्ज्ञन्ति न धाम मानिनः ॥

'राख के ढेर को सब लांघ जाते हैं, पर स्वर्णसन्निभ तेज से जाज्वल्यमान अग्निपुंज को कोई लांघने की हिम्मत नहीं कर सकता। इसीलिए स्वाभिमानी राष्ट्रचेता अपने प्राण भले ही आसानी से छोड़ दे, परन्तु अपने तेज को नहीं छोड़ते' ।

अन्य राष्ट्रचेताओं में किसी में कोई चिनगारी दिखेगी, किसी में कोई। किसी में स्वधर्म की चिनगारी, किसी में स्वदेश और स्वराज्य की, किसी में स्वभाषा और स्वसंस्कृति की। परन्तु स्वधर्म, स्वभाषा, स्वदेश, स्वराज्य आदि शब्दों में जो 'स्व' छिपा है, उसका गौरव ऋषि की राष्ट्रचेतना में निहित है – वैसा इकट्ठा, पुंजीभूत जाज्वल्यमान अग्निपुंज और कहीं दिखाई नहीं देता।

वक्तव्य के शुरू में मुकित सम्बन्धी आत्मा की शाश्वत ललक की जो चर्चा की गई है, वही है असली स्वाधीनता, स्व का चरम विकास, आत्मचेतना का राष्ट्रचेतना में परिपाक। इस अवस्था में एकान्त योग-साधना में भी स्वार्थ और संकीर्णता की गन्ध आने लगती है और परार्थ के लिए जीवन पूर्णतः उत्सर्ग हो जाता है। यही कारण है कि इस अग्निपुंज राष्ट्रचेता का तेज उन लोगों को सहन नहीं हुआ, जो स्वाधीनता के सही मर्म को न समझकर विदेशी दासता में सुखोपभोग को जीवन की सार्थकता समझते थे। इसलिए वे सब के सब सम्मिलित होकर इस अग्निपुंज को बुझाने को दौड़े। इनमें हिन्दू भी थे, मुसलमान भी, ऋषि के बहुत से बनावटी भक्त पर अंग्रेजों के प्रच्छन्न गुप्तचर भी, और जिनकी दासता के विरुद्ध यह राष्ट्रचेतना सबसे अधिक उग्र रूप में उबल रही थी, वे अंग्रेज तो इसमें शामिल थे ही। आखिर उन सबने मिलकर षड्यंत्र किया और ऋषि को विष देकर ही उनके प्राणान्त से इन षड्यंत्रकारियों को शान्ति मिली ऋषि तो 'हे ईश्वर। तेरी इच्छा पूर्ण हो, अहा! तू ने अच्छी लीला की' – कहकर इस असार संसार से विदा हो गए, पर अपने अग्निपुंज की विरासत अपने अनुयायियों के लिए छोड़ गए।

अपने जीवन की एक वैयक्तिक घटना का उल्लेख करूं तो आप बुरा नहीं मानेंगे। सन् 31 की बात होगी। मैं गुरुकुल कुरुक्षेत्र की सातवीं कक्षा में पढ़ता था। उस समय गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर हम सब विद्यार्थी अच्छे अच्छे वेदमंत्र, संस्कृत के श्लोक और हिन्दी के दोहों तथा सूक्तियों के 'मोटो' बनाकर पंडाल में सजावट के लिए टांगा करते थे। मुझे पता नहीं क्या सूझी कि मैंने एक 'मोटो' अंग्रेजी में बनाया। उससे पहले गुरुकुल में शायद ही किसी ने अंग्रेजी का मोटो बनाया हो। वह मोटो था अब्राहम लिंकन का अमर वाक्य- "If slavery is not wrong, nothing is wrong" – यदि गुलामी पाप नहीं है तो कुछ भी पाप नहीं है। यह मोटो बनाकर उत्सव से पूर्व-संध्या को मैंने मंच पर सबसे आगे लगा दिया। अगले दिन जब अम्बाला के अनेक रायबहादुर और ब्रिटिश सेवा में नियुक्त गुरुकुल के

हितैषी दानी महानुभाव उत्सव में आए और उनकी दृष्टि इस मोटो पर पड़ी तो सबसे पहला काम उन्होंने यही किया कि उस मोटो को वहां से हटवा दिया और अधिकारियों से उस ब्रह्मचारी को गुरुकुल से निकाल देने की मांग की जिसने ऐसी गुस्ताखी की थी। अस्तु, मुझे परिस्थितिवश गुरुकुल से निकाला तो नहीं गया, पर तभी से मेरे मन में यह धारणा बैठ गई कि ब्रिटिश राज्य को बनाए रखने में अपने आकाओं से भी ज्यादा उत्साही वे भारतीय थे जिनके उस राज्य से स्वार्थ सिद्ध होते थे। तभी से मेरे मन में उनके प्रति तीव्र आक्रोश भर गया।

कुछ लोग ऋषि के अखण्ड ब्रह्मचर्य पर मुग्ध हैं। महात्मा गांधी कहा करते थे – "His brahmacharya is my envy and failure" – उनका ब्रह्मचर्य मेरे लिए ईर्ष्या की वस्तु है पर मैं उसमें विफल हूं। कुछ लोग उनकी वाग्मिता और शास्त्रार्थ-पदुता पर मुग्ध हैं। कुछ लोग उन्हें परम वेदोदधारक और प्रबल समाज सुधारक कहकर सन्तुष्ट होते हैं, तो कुछ उन्हें अबलाओं और अनाथों का रक्षक कहकर उनकी प्रशंसा के गीत गाते हैं। पर मैं उनकी उस प्रखर राष्ट्रचेतना पर मुग्ध हूं जो उनको अन्य सब महापुरुषों से एकदम अलग, पर्वत-शिखरों में सबसे पृथक् और सबसे ऊंचा शिखर सिद्ध करती है। मुझे उनका वेदोद्घारक और समाज सुधारक आदि सभी रूप स्वीकार्य हैं, क्योंकि उनका जीवन इतना बहु-आयामी है कि किसी एक दिशा में उसे बांधा नहीं जा सकता। पर जहां तक राष्ट्रचेतना का प्रश्न है, उनसे बढ़कर आप्त राष्ट्रपुरुष मुझे दिखाई नहीं देता – जिसने राष्ट्र की पूरी अस्मिता को, पूर्ण स्व को, आत्मसात् किया हो – फिर चाहे वह देश वाला रूप हो, चाहे राष्ट्रवाला, चाहे राज्य वाला – और उसे पूरा शास्त्रीय आधार प्रदान किया हो। उन्होंने राष्ट्र का पूरा मानवित्र (ब्लूप्रिंट) तैयार कर दिया है, अब उसमें रंग भरने वाले की आवश्यकता है। मेरा कहना केवल इतना है कि आर्यसमाज के तम्बू में एक बांस बेशक वेद और धर्म का लगाइए, दूसरा बांस समाज-सुधार का और तीसरा अबला-अनाथ रक्षा का और चौथा पाण्डित्य और शास्त्रार्थ का, पर तम्बू के बीचोंबीच सबसे मोटा बांस राष्ट्रचेतना का लगा दीजिए। इसके बिना ऋषि की आत्मा के साथ न्याय नहीं होगा।

स्वामी सत्यानन्दजी 'श्रीमद्दयानन्द प्रकाश' की भूमिका के अन्त में लिखते हैं-

"स्वामी जी महाराज पहले महापुरुष थे जो पश्चिमी देशों के मनुष्यों के

गुरु कहलाये। . . . जिस युग में स्वामी जी हुए उससे कई वर्ष पहले से आज तक ऐसा एक ही पुरुष हुआ है जो विदेशी भाषा नहीं जानता था, जिसने स्वदेश से बाहर एक पैर भी नहीं रखा था, जो स्वदेश के ही अन्न-जल से पला था, जो विचारों में स्वदेशी था, आचारों में स्वदेशी था, भाषा और वेश में स्वदेशी था, परन्तु वीतराग और परम विद्वान् होने से सबका भवित-भाजन बना हुआ था। . . . महाराज निरपेक्षभाव से समालोचना किया करते। सब मतों पर टीका-टिप्पणी चढ़ाते। परन्तु इतना करने पर भी उनमें कोई ऐसी अलौकिक शक्ति और कई ऐसे गुण थे जिनके कारण वे अपने समय के बुद्धिमानों के सम्मानपात्र बने हुए थे। . . . महाराज के उच्चतम जीवन की घटनाओं का पाठ करते समय हमें तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि आज तक जितने भी महात्मा हुए हैं उनके जीवनों के सभी समुज्ज्वल अंश दयानन्द में पाये जाते थे। वह गुण ही न होगा जो उनके सर्वसम्पन्न रूप में विकसित न हुआ हो। महाराज का हिमालय की चोटियों पर चक्कर लगाना, विन्ध्याचल की यात्रा करना, नर्मदा के तट पर धूमना, स्थान स्थान पर साधु-संतों के दर्शन और सत्संग प्राप्त करना मंगलनाम श्रीराम का स्मरण कराता है। कर्णवास में कर्णसिंह के बिजली के समान चमकते खड़ग को देखकर भी महाराज नहीं कौपै, तलवार की अतिरीक्षण धारा को अपनी ओर झुका हुआ अवलोकन करके भी निर्भय बने रहे और साथ ही गम्भीर भाव से कहने लगे कि आत्मा अमर है, अविनाशी है, इसे कोई हनन नहीं कर सकता। यह घटना और ऐसी ही अनेक अन्य घटनाएं ज्ञान के सागर श्रीकृष्ण को मानस नेत्रों के आगे मूर्तिमान् बना देती हैं। . . . अपनी प्यारी भगिनी और पूज्य चाचा की मृत्यु से वैराग्यवान् होकर वन वन में कौपीनमात्रावशेष दिगम्बरी दिशा में फिरना, घोरतम तपस्या करना और अन्त में मृत्युंजय महौषध को ब्रह्मसमाधि में लाभ कर लेना महर्षि के जीवन का अंश बुद्ध के समान दिखाई देता है।

“दीन-दुखियों, अपाहिजों और अनाथों को देखकर श्रीमद् दयानन्द जी क्राइस्ट बन जाते हैं। धुरन्धर वादियों के समुख श्रीशंकराचार्य का रूप दिखा देते हैं। एक ईश्वर का प्रचार करते और विस्तृत भ्रातृभाव की शिक्षा देते हुए भगवान् दयानन्द जी श्रीमान् मुहम्मद जी प्रतीत होने लगते हैं। ईश्वर का यशोगान करते हुए स्तुति प्रार्थना में जब प्रभु इतने

निमग्न हो जाते हैं कि उनकी आँखों से परमात्म-प्रेम की अविरल अशुद्धारा निकल आती है, गदगद कण्ठ और पुलकित गात हो जाते हैं तो सन्तवर रामदास, कबीर, नानक, दादू, चेतन और तुकाराम का समां बंध जाता है। वे सन्त-शिरोमणि जान पड़ते हैं। आर्यत्व की रक्षा के समय वे प्रातः स्मरणीय प्रताप और शिवाजी तथा गुरु गोविन्दसिंह जी का रूप धारण कर लेते हैं।

"महाराज के जीवन को जिस पक्ष से देखें वह सर्वांग सुन्दर प्रतीत होता है। त्याग और वैराग्य की उसमें न्यूनता नहीं है। श्रद्धा और भक्ति उसमें अपार पाई जाती है। उसमें ज्ञान अगाध है। तर्क अथाह है। वह समयोचित मति का मन्दिर है। प्रेम और उपकार का पुंज है। कृपा और सहानुभूति उसमें कूट कूट कर भरी है। वह ओज है, तेज है, परम प्रताप है, लोक-हित है और सकल कला-सम्पूर्ण है।"

इस भक्तिभावाप्लावित कथन के बाद ऋषि के बारे में और कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रहती। फिर भी श्रीमद्भगवद् गीता के शब्दों में —

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भा: सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥
(गीता, एकादश अध्याय, श्लोक 12)

"यदि आकाश में हजारों सूर्य एक साथ उदित हों तो उनकी जैसी आभा और दीप्ति होगी, कुछ कुछ वैसी ही दीप्ति उस आप्त महापुरुष की होगी।"

हे भारत के (और मानवजाति के) भावी भाग्यविधाता! पूर्ण आप्त राष्ट्रपुरुष ऋषि दयानन्द! तेरी जय हो! जय हे! जय है! जय जय हे !!

क्षितीश वेदालंकार
सुपर्णा, डी-81, गुलमोहर पार्क
नई दिल्ली - 110049

टाइपसेटिंग एवं मुद्रण : वर्डप्रोनिक, 111/56, नेहरू प्लॉस, नई दिल्ली। दूरभाष: 6448418

लेखक द्वारा रचित और सम्पादित कृतियों की सूची

1. आर्यसत्याग्रह में गुरुकुल की आहुति
2. जातिभेद का अभिशाप
3. जलबिन्दु (गुजराती से अनूदित)
4. आर्यसमाज की विचारधारा
5. स्वेतलाना (उपन्यास, दो संस्करण)
6. सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ
7. श्रीकृष्ण सन्देश (जुगलकिशोर बिरला स्मृति अंक)
8. गांधी जी के हास्यविनोद
9. मारीशस स्मारिका
10. बंगलादेश: स्वतंत्रता के बाद
11. ईश्वर: वैज्ञानिकों की दृष्टि में (अंग्रेजी से अनूदित)
12. दयानन्द दिव्य दर्शन
13. दिव्य दयानन्द
14. ओ मेरे राजहंस !
15. फिर इस अन्दाज से बहार आई
16. देवता कुर्सी के
17. सत्यार्थप्रकाश शताब्दी स्मारिका
18. लन्दन स्मारिका
19. भारत हिन्दू (आर्य) राज्य कैसे
20. निजाम की जेल में
21. तूफान के दौर से पंजाब (तीन संस्करण)
22. डी. ए. वी. शताब्दी स्मारिका
23. हिन्द की चादर पर दाग
24. राष्ट्रीय एकता की बुनियादें
25. कश्मीर: झुलसता स्वर्ग
26. चयनिका